भाषा वैज्ञानिक निबंध

भाषा वैज्ञानिक निबन्ध

प्रथम संस्करण : अगस्त 1977
मूल्य : तीस रुपया मात्र।
प्रकाशक : रामा प्रकाशन, नजीराबाद, लखनऊ।
मुद्रक : रामा प्रेस, नजीराबाद, लखनऊ।
BHASHA VEGYANIK NIBANDH : Price 30-00

दो शब्द

डा॰ हेमचन्द्र जोशी हिन्दी क्षेत्र के पहिले विद्वान थे जिन्होंने योरोप जाकर पहिली बार भाषा विज्ञान का विधिवत् अध्ययन किया था। अधिकतर वे पेरिस में रहे, किंतु जर्मनी में उन्होंने काफी समय व्यतीत किया और वे जर्मन विद्वानों से विशेषरूप से प्रभावित हुए। उन्हें जर्मन भाषा पर पूरा अधिकार था और उन्होंने जर्मन संस्कृतज्ञों (जैसे वाकर नागल) के ग्रन्थ मूल जर्मन भाषा में पढ़े थे। जर्मन और फ्रेंच के अतिरिक्त उन्होंने लैटिन और ग्रीक भाषाओं का भी परिचय प्राप्त किया था। संस्कृत से पूर्व परिचित थे और उन्होंने फ़ारसी का भी अध्ययन किया था। वे विद्याव्यसनी थे और उनमें अपने को आगे करने या अपना ढोल पीटने की कला बिल्कुल नहीं आती थी। इसलिए अपने जीवनकाल में उन्हें वह मान्यता और आदर प्राप्त नहीं हुआ जो उनका दाय था। देश और हिन्दी भाषा उनके गहन पाण्डित्य से वह लाभ नहीं उठा सकी जो उनसे उठाया जा सकता था। किसी विश्वविद्यालय ने भी इस देश में उनकी कद्र नहीं की और उन्हें जीवन यापन के लिए पत्रकारिता का सहारा लेना पड़ा, किंतु अपने अध्ययनशीलता के कारण उन्हें उसमें सफलता नहीं मिली। उनका जीवन इस देश के विद्याव्यसनी की त्रासदी (ट्रैजेडी) की कहानी है।

इस संग्रह में उनके भाषा विज्ञान संबंधी कुछ निबंधों का संग्रह है। ये निबंध उन्होंने सामान्य पाठकों के लिए लिखे थे, इसीलिए उनमें विविधता और क्रमहीनता है। किंतु प्रत्येक निबंध उनकी भाषा विज्ञान की गहरी पैठ और पकड़ को प्रकाशित करता है। ये लेख

मनोरंजक और विचारोत्तेजक हैं, और भाषा विज्ञान में रुचि लेने वालों के लिए महत्वपूर्ण जानकारी से भरे हुए हैं। भाषा विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए ये विशेष उपयोगी हैं। क्योंकि इनमें भाषा-विज्ञान के मूल तत्वों और भारोपा भाषाओं के विषय में अपूर्व जानकारी ही नहीं, एक नयी दृष्टि और दिशा मिलती है जो इस विषय की सामान्य पुस्तकों में नहीं मिलती। अतएव यह संग्रह भाषाविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए पूरक सामग्री प्रस्तुत करता है।

मुझे विश्वास है कि इन निबंधों से भाषाविज्ञान के अध्येताओं को सहायता मिलेगी, और ये डा० हेमचन्द्र जोशी के गहन ज्ञान और सरल शैली का भी उन्हें परिचय देंगे। हिन्दी के भाषा विज्ञान साहित्य को यह पुस्तक समृद्ध करेगी।

श्री नारायण चतुर्वेदी

भूमिका

भाषा-विज्ञान का जन्म यूरोप में संस्कृत का प्रचार होने से हुआ। जब सत्रहवीं शती के अंत मे पादड़ी हरवास साहब ने संसार की सैंकड़ों भाषाओं की खोज की तो उन्हें पता चला कि संस्कृत और ग्रीक में बहुत साम्य है। उसके बाद १७९४ ई० मे कलकत्ते में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी खोली गई तो सर विलियम जोन्स ने ग्रीक और लैटिन भाषाओं के अनेक शब्दों को संस्कृत से मिलता जुलता पाया। उन्होने इन भाषाओं की ओर संकेत किया। फिर क्या था—यूरोप में संस्कृत का अध्ययन होने लगा। फ्रांस बोप ने १८१६ ई० में पेरिस विश्वविद्यालय में यूरोपियन संस्कृत और फारसी भाषाओं में शब्दों और व्याकरण के रूपों की भली-भांति तुलना करके सिद्ध कर दिया कि अधिकांश यूरोपीय और ईरान की भाषाएं आर्य हैं और उनमें सब प्रकार की समानता वर्तमान है। वास्तव में बोप साहब के उक्त बात के सिद्ध करते ही भाषा-विज्ञान का जन्म हुआ। इस विषय पर हिन्दी के भाषा-शास्त्री बहुत कम या नहीं के बराबर लिखते हैं। इस कारण इस विषय मे मेरे निबंध पढ़ने पर हिंदी के बहुत-से भाषा-शास्त्रियों और विश्वविद्यालयों के अध्यापकों ने मुझसे आग्रह किया कि मैं इस विषय पर अपने निबंधों को पुस्तकाकार छपाऊं। मैंने उनके आग्रह से निबंध पुस्तक रूप में छपवाए कि विश्वविद्यालयों में भाषा-विज्ञान के छात्र हिन्दी और भारोपा भाषाओं के संबंध को ठीक-ठीक जानें। इस विषय पर हिन्दी में यह एक ही पुस्तक है। बिना हिन्दी और भारोपा भाषाओं की तुलना के भाषा-विज्ञान अधूरा रह जाता है। भाषा-विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए यह ज्ञान बहुत आवश्यक है। इस ग्रंथ से उक्त कमी की पूर्ति होगी।

हेमचन्द्र जोशी

विषय-सूची

पृष्ठ

भाषा में ध्वनि-परिवर्तन

भाषाविज्ञान का जन्म वेदो के निर्माण और पठन-पाठन के साथ हुआ। ऋग्वेद का पद-पाठ इसलिए लिखा गया है कि उसके अध्ययन में सरलता आ जाए और कठिन संधियुक्त शब्द दुरुह न रह जाएँ। वेदो में कई सन्धियां और समास अनियमित रूप से बने हैं। देवदत्त के स्थान पर देवत्त पाया जाता है। एक ही अर्थ मे वेदो में अप और आप शब्द आए हैं। भूमि का एक रूप भूम भी आया है। यह भूम ईरानी भाषा के बूम शब्द की स्मृति है। दाता के अर्थ मे धाता आया है। वेदो की भाषा लोक-प्रचलित होने के कारण उनमे शुद्ध, व्याकरण-सम्मत, सुसस्कृत भाषा नही पाई जाती है। इन्हे छादस भूल कहा जाता है। दा धातु के स्थान मे धा का आ जाना जनता की बोली का प्रभाव सिद्ध करता है। यास्काचार्य पहले भाषाशास्त्री थे जिन्होंने वेदों के कुछ अशुद्ध प्रयोग शुद्ध किए। उन्होने बताया कि प्रथम अशुद्ध प्रयोग है। यह कभी प्रतम रूप मे था। प्र-तम का अर्थ स्पष्ट है। प्र का अर्थ है 'आगे' या 'पहले' और प्र मे तम प्रत्यय जोड देने से इस शब्द का अर्थ हो गया 'सबसे आगे या पहले'। इस कारण निरुक्त मे ठीक ही कहा गया है—प्रथमः प्रतमो बभूव, 'प्रथम शब्द प्रतम था'। अतः साफ है कि यद्यपि हिन्दी में आज भी प्रथम रूप ही चलता है तथा शुद्ध माना जाता है तो भी व्युत्पत्ति के अनुसार इसका मूल रूप प्रतम ही ठीक माना जाना चाहिए। वेदो मे इसका रूप प्रथम पाया जाता है, संस्कृत मे भी परम्परा के कारण यही रूप चलता रहा और हिन्दी ने इस परम्परा को बनाए रखा। इसका मतलब यह नहीं है कि प्रथम रूप साहित्य मे सदा से प्रचलित होने के हजारो प्रमाण मिलने पर भी प्रथम मे त के स्थान पर थ का आगम शुद्ध माना जाए। इसके विषय मे यही लचर दलील दे सकते हैं कि 'भारतीय आर्यों के सबसे आदि ग्रन्थ वेदों मे इसका ही प्रयोग है, इस कारण यह शुद्ध है'। भाषा-शास्त्र मे ध्वनि-विकार का एक नियम

सदा सब भाषाओं में काम करता है और यह ध्वनि-परिवर्तन भाषा का रूप ही बदल देता है। प्रतम का प्रथम रूप इसी कारण हुआ। अंग्रेजी शब्द first (फ़र्स्ट) ध्वनि-विकार का अच्छा उदाहरण है। यह कभी, जब आर्य जाति एक साथ रहती होगी, प्रष्ठ (प्र-स्थ), पुरस्थ, पुरस्त या प्रेष्ठ रूप मे विद्यमान रहा होगा। हजारों वर्षों मे, बिगड़ते-बिगड़ते, अब फ़र्स्ट रूप मे प्रयुक्त होने लगा है। यदि इसका मूल रूप प्रेष्ठ रहा होगा तो इसका प्रत्यय—इष्ठ माना जायगा। संस्कृत मे वसिष्ठ शब्द है। इसका अर्थ है 'सब से उत्तम पदार्थ या मनुष्य'। इसका रूप अंग्रेजी मे best हो गया है। इस प्रकार-इष्ठ का रूप अंग्रेजी मे घिसते-मंजते-st रह गया है। ईरानी मे वसिष्ठ का रूप बहिस्त 'स्वर्ग=उच्चतम' है। अंग्रेजी मे most, next, sweetest आदि में जो-st रह गया है वह संस्कृत–इष्ठ का ध्वनि-विकार है। स्वीटेस्ट, स्वादिष्ट का ध्वनि-विकार है। इसका रूप गौथिक भाषा मे su-t-st (सुत्-स्त) था। जर्मन मे शब्द के बीच मे आने वाला अंग्रेजी त या ट, स बन गया है। पद का अंग्रेजी में फ़ुट, रूप बन गया है। जर्मन मे फ़ुस रूप है। यहा अंग्रेजी ट का स बन गया है।

आदि आर्य शब्द देवृ या देवर था। प्राचीन लैटिन मे यह देविर् हो गया। बाद मे द का ल हो गया और नई लैटिन मे इसका रूप लेविर हो गया। द का ल अपनी आर्य-भाषाओ मे बहुत हुआ है। प्राय अढाई हज़ार वर्ष पहले अर्ध-मागधी और मागधी प्राकृत मे द्वादश का रूप दुवालस पाया जाता है। ग्यारह, बारह आदि मे द का र हो गया है। संस्कृत में नियम है--रलयो अभेद, र ल मे कोई भेद नहीं है। ऋग्वेद मे सर्वत्र 'सफेद या चमकनेवाला' के लिए शुक्र का प्रयोग किया गया है। दशवें मंडल मे इसके स्थान पर शुक्ल शब्द काम मे लाया गया है। संस्कृत मे शुक्र असुरो का गुरु, वीर्य, एक सितारा आदि है। श्वेत के अर्थ में शायद ही कहीं इस शब्द का प्रयोग किया गया हो। श्वेत के अर्थ में शुक्ल ही चलता है। फारसी में शुक्र का सुर्ख हो गया है और अर्थ है 'लाल'। आर्य-भाषाओं में ध्वनि-परिवर्तन का एक सुन्दर उदाहरण संस्कृत शब्द मृग है। ऋग्वेद में हस्ती-मृग, अश्व-मृग शब्द मिलते है। इनमें मृग का अर्थ है 'चारा खोजने वाला जंगली पशु'। यह शब्द दूसरे रूप में संस्कृत में मार्गण पाया जाता है। यह मार्गण माँगना का पुराना रूप है। मृग का ईरानी रूप मुर्ग है। इसका अर्थ है 'चारा चरने वाला पक्षी'। फारसी का शुतुर-मुर्ग, उशतुर-मुर्ग=उष्ट्र-मृग है। इसका अर्थ है 'ऊट सा पक्षी'।

फारसी मुर्ग से हमें यह तथ्य भी मालूम पड़ता है कि मृ ईरानी में म्र बोला या पढ़ा जाता होगा। हम जानते हैं कि ऋ को दक्षिण भारत के गुजरात, महाराष्ट्र और मद्रास में रु पढ़ा जाता है और उत्तर भारत में रि। प्राचीन हिंदी में सर्वत्र रि का ही प्रयोग पाया जाता है। तुलसीदास ने ऋतु को रितु, ऋण को रिण, ऋद्धि को रिद्धि लिखा है। प्राकृत में ऋ अक्षर का लोप हो गया था। उसके स्थान पर रि चलता था। यह रि प्राचीन हिन्दी में चला आया। संस्कृत का ज्ञान बढ़ते ही अब भारत मे सर्वत्र ऋ का बोल-बाला हो गया है। हमारी वर्णमाला में कुछ अक्षर दोषपूर्ण हैं। ऋ भी दोषपूर्ण है। इसके वैदिक काल से दो अलग-अलग उच्चारण पाए जाते है। वैदिक पृच्छ् धातु से नवीन आर्य भाषाओं में पूछना, पुछणे, पुछवूं आदि धातुएँ आई। इससे पता चलता है कि पृ का एक उच्चारण वैदिक काल में प्रु भी रहा होगा। वैदिक पृ धातु का 'पूर्ण' रूप भी यही सिद्ध करता है। हिंदी में पृ से पूरा, पूरना आदि शब्द बने है। ऋकार का रुकार उच्चारण बताता है कि वैदिक काल में भी इसके दो भिन्न-भिन्न उच्चारण थे तथा ये दोनो उच्चारण भारत में आज भी मौजूद हैं। हम अमृतांजन को Amritanjan कहते हैं; मद्रास मे इस दवा के बाहर छपा रहता है Amrutanjan। संस्कृत लिपि मे दोनों अमृतांजन है। हिंदी और मराठी लिपि में लिखावट एक है, पर उच्चारण दो है। हिंदी मे रि और मराठी मे रु उच्चारण है। ऋ के दो उच्चारण होने और कुछ आर्य जनता के इसका उच्चारण रु करने के कारण मृग का ईरानी में म्रग होकर मुर्ग रूप बन गया। हमारा मृत अवेस्ता मे मरेत और लैटिन मे मोर्त (mort) बन गया। यह है ध्वनि-परिवर्तन का प्रभाव और चमत्कार।

अवेस्ता की भाषा वैदिक भाषा की बहिन है। इसके छंद भी वेदों के छंद के समान ही हैं। अन्य आर्य भाषाओ की अपेक्षा (जैसे ग्रीक, लैटिन आदि) इसका साम्य भारतीय आर्य भाषाओ से अधिक है। इस कारण आर्य-भाषा वर्ग में भार-ईरानी परिवार आज भी निकट संबंधी माना जाता है। वैदिक मास अवेस्ता में माह पाया जाता है। आज भी वर्तमान फारसी मे मास को माह ही कहते है। वैदिक मेघ फारसी मेह हो गया है। अब भारत-ईरानी परिवार की अति निकटता देखिए कि हमारी प्राकृत भाषाओं में भी मेघ का रूप मेह मिलता है। मद 'शराब' का फारसी रूप मै है। यह रूप प्राकृत मे मअ, मय मिलता है। ये दोनों रूप संस्कृत मद (नशा) के विकार है। अवेस्ता मे भवति का रूप बवैति है और इस समय फारसी मे जो बूव रूप

है; यह प्राचीन संस्कृत (वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों आदि के समय की भाषा) के भूत या अभूत का ध्वनि-परिवर्तित या विकृत रूप है। फारसी शाह अवेस्ता के रुशायथ (वैदिक रूप क्षायथं का अवेस्ता रुश्=भारतीय आर्य क्ष् का विकृत रूप तथा क्षय 'घर संपत्ति') से निकला है। हिंदी भले ही आजकल कई लेखको द्वारा कठिन संस्कृत शब्दो से ठूंस दी गई हो, कबीर, जायसी आदि से पहले ही यह प्राकृतमय हो गई थी। किन्तु फारसी आज तक भी आर्य शब्दों के मूल रूप का परिचय स्पष्ट देती है। चर्म हिंदी मे चाम या चमडा हो गया है। चिमगादड़ मे यह चिम—रूप मे है। फारसी में चमड़े को आज भी चर्म कहते है, जो रूप वेदो और अवेस्ता मे मिलता है। फारसी का बियाबान आदि भी विआप (अर्थात् बिना पानी का स्थान) का परिचय देता है। गरम, गर्म वैदिक और अवेस्ता के धर्म तथा गर्म के रूप हैं। वसन्त ऋतु को फारसी मे बहार कहते है। यह बह-वै० वस् 'चमकना' का एक रूप है। वसन्त का अर्थ है 'चमकता हुआ' इसका रूप अवेस्ता में वंह या बह हो गया है। पाठक जानते ही है कि वशिष्ठ शब्द का अर्थ संस्कृत मे नही मिलता, यह एक वैदिक ऋषि के नाम के रूप मे रह गया है। फारसी मे इसका रूप बहिश्त हो गया है, जिसका अर्थ है 'स्वर्ग, सबसे अधिक चमकने वाला या सुन्दर'। संस्कृत मे वस्-अन्त और इसी धातु से फारसी मे बह-आर रूप बने है। ध्वनि-परिवर्तन का तमाशा देखिए कि भाषा-शास्त्री के सिवा अन्य कोई विद्वान् यह नही समझ सकता कि उक्त संस्कृत और फारसी शब्दो के मूल में धातु एक ही है। हमारा बन्ध फारसी मे बन्द रूप मे मिलता है। हमारी भूमि फारसी मे बूम है; हमारा धान फारसी में दाना हो गया है। हमारे धान का फारसी में दान रूप पाया जाता है, जिसका अर्थ है 'धारण करने वाला पदार्थ'। नि-धान मे यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है, निधान का अर्थ है 'वह मूल्यवान पदार्थ जो भूमि के भीतर गाडा जाता हो'। फारसी मे कलम-दान आदि शब्दो मे जो दान आया है वह इसी अर्थ मे है। असल बात यह है कि ईरानी भाषा-वर्ग मे ख घ भ आदि महाप्राण अक्षर नही हैं, इसलिए उनमे अक्षरो के अ-प्राण रूप ही काम मे लाए जाते हैं।

ध्वनि-परिवर्तन का एक और चमत्कार देखिए कि लैटिन भाषा मे जैसा आप देख चुके हैं या पढ़ चुके है, संस्कृत देवर का देविर रूप हो गया जो बाद की लैटिन मे लेविर रूप मे पाया जाता है। मागधी मे द का ल हो जाता है। संस्कृत द्वादश मागधी प्राकृत में बुवालश हो जाता है। संस्कृत का अद्

धातु ग्रीक और लैटिन में एद् है, इसके नये रूप अँग्रेजी में ईट (eat), जर्मन में (essen) है आदि आदि ।

यह ध्वनि-परिवर्तन वैदिक, संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि में भी निरन्तर होता रहा है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का अद्य पाणिनि के अनुसार वेदों से भी पहले अ-द्यवि—'आज के दिन में' रहा होगा। यह अद्य प्राकृत भाषाओं में अज्ज रूप धारण करके हमारी हिंदी में आज हो गया है। यह भी ध्वनि-परिवर्तन का माहात्म्य है। संस्कृत में पत्र (पत्ता) है। किसी विद्वान् ने पत्रक रूप का भी प्रयोग कर दिया होगा और जनता उसे पत्त-अ रूप में बोलने लगी, परिणाम यह हुआ कि हिंदी में पत्ता शब्द ने जन्म ले लिया। संस्कृत कर्म शब्द प्राकृत में कम्म होकर हमें आज हिंदी में अपना रूप काम बनाकर दर्शन दे रहा है। संस्कृत मुख-दायी प्राकृत में मुह-आई हो गया। तुलसीदास जी ने इसके एक और प्राकृत रूप सुहाई की अपने ग्रन्थ में भरमार कर दी। इसका मूल अर्थ 'मुखदाई' था। अब संस्कृत शोभ् और उसके प्राकृत रूप सोह् के प्रभाव से हम सोहाई का अर्थ 'सुभायमान' करते हैं। उक्त सब शब्दों को पढ़कर और उनका मनन करके यह बात साफ हो जाती है कि ध्वनि-परिवर्तन भाषा-शास्त्र का अपरिवर्तनशील परिवर्तन है।

शब्दार्थ-विकार

सेठ जी के मुनीम ने दिल्ली से सेठ जी के घर मेरठ को लिखा कि सेठ जी अजमेर गए है। सेठ जी के घर वालो ने मात्राहीन कैथी लिपि मे पत्र पढा, तो जल्दी से पढ गए-'सेठ जी आज मर गए है'! 'पढ़ते ही सारे घर मे कोहराम मच गया। छह्-सात दिन बाद जब सेठ जी घर लौटे, तो घर वालो ने समझा कि सेठ जी का प्रेत, क्रिया ठीक न होने मे, अभी संसार में ही विचरण कर रहा है। अपने परिवार के लिए सेठ जी स्वर्ग पहुँच चुके थे। भूत को भगाने की वडी चेष्टा की गई। भूत समझा कि मैं अब अपनी संपत्ति से भी हाथ धो रहा हूँ, सो बहुत समझाने-बुझाने के बाद रहस्य खुला कि सेठ जी मरे नही, वे अजमेर गए थे। पढ़ने वालो ने जल्दी मे समझा सेठ जी आज मर गए। यह लिपि का विकार रहा। सेठों के मुनीम अपनी लिपि मे मात्राओ का नामो-निशान नही रखते। उसी का यह परिणाम था। आजकल टाइप-राइटर द्वारा पत्र इसलिए लिखे जाते है कि पढने वाले अशुद्ध न पढ़े और भ्रम मे न पड़ें।

शब्दार्थ-विकार से भी कभी-कभी ऐसा हो जाता है और बड़े-बड़े विद्वान अपनी विद्या खो बैठते है। एक उदाहरण लीजिए—हिंदी के अच्छे और प्रामाणिक कोशों मे **आराम** शब्द मिलता है। उसके विषय मे लिखा जाता है कि सस्कृत **आराम** का अर्थ 'बगीचा' है और फारसी आराम का अर्थ 'सुख-चैन' है। हिंदी-शब्द-सागर से लेकर सभी कोश इन्ही बातों को दुहराते आए है। बड़े-बड़े विद्वानो, डाक्टरो ने कोश सकलित किए हैं; सबने एक ही बात दुहराई है। अब देखिए कि भगवद्गीता मे भगवान् कृष्ण के मुख से जो शब्द निकले है, अधिकाश हिंदू उनका प्रतिदिन प्रात काल पाठ करते हैं। गीता मे भगवान् ने एक स्थान पर कहा है :

'अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।' रात-दिन पाप करने वाला और इंद्रियों को ही सुख देने वाला, हे पार्थ ! व्यर्थ ही जीवन बिताता है । उक्त श्लोक के **इंद्रियाराम** शब्द मे **इंद्रिय** और **आराम** शब्द विद्यमान हैं । इस आराम का वही अर्थ है, जिसे हिंदी के कोशकार बड़ी शोध के बाद बताते है कि यह शब्द मूल मे फारसी है । वेदों मे **राम** का अर्थ 'रात' है, जिस समय हम आराम करते है । अवेस्ता और फारसी दोनों ही आर्य भाषाएँ होने के कारण उनमे आराम शब्द चलता है । कैथी लिपि मे न होने पर भी हम आराम शब्द के विषय मे भ्रम मे ही पड़ गए, जिसके आधार पर हिंदी-कोश आराम को फारसी का शब्द बताते है और इन महानुभावो ने भगवान् के मुँह से जो आराम शब्द निकला, नित्य पाठ करने पर भी, उसका अर्थ ही नही समझा । दूसरे शब्दों मे हम यह कह सकते हैं कि हमारे कोशकारो ने संस्कृत के **आराम** शब्द की हत्या ही कर डाली । यह शब्दार्थ का विचित्र प्रयोग है ।

भाषा का एक अपरिवर्तनशील नियम यह है कि शब्दों की ध्वनि और अर्थ निरंतर बदलते है । हम जिसे **बसन्त** कहते हैं वह फारसी मे **बहार** हो गया और हम जिसे **वशिष्ठ** कहते है वह फारसी मे **बहिश्त** हो गया । देखिए, हमारे वशिष्ठ महान् ऋषि हो गए है और इसकी व्युत्पत्ति **वश्** 'चमकना' 'सुंदर होना' है । फारसी **बहार** की व्युत्पत्ति भी इसी **वश्** से है । जिसका अवेस्ता के समय **वह्** रूप बन गया था । बसन्त और बहार की व्युत्पत्तियों का भी वही रूप है । अब **वशिष्ठ** और **बहिश्त** के भी अर्थ बदल गए है । इससे आप समझ गए होगे कि ध्वनि और शब्दार्थ के रूप निरंतर बदलते रहते है । अँग्रेजी **'बैस्ट'** इन्ही वशिष्ठ और बहिश्त का रूप है, जिसका अर्थ 'सबसे अच्छा' है ।

एक कविता लीजिए, कबीर ने लिखा है :

रंगी को नारंगी कहे, नगद माल को खोया ।
चलती को गाड़ी कहे, देख कबीरा रोया ॥

कबीर को नारंगी देखकर आश्चर्य हुआ । जिसे हम नारंगी या अर्थ के अनुसार **बिना रंग का** कहते हैं वह स्पष्ट ही रंगीन है तथा जिसे हम **गाड़ी** अर्थात् **'गाड़ दी गई'** कहते हैं, वह गाड़ी नही होती, बल्कि चलती है । कबीर यह नही जानते थे कि नारंगी शब्द ईरान से स्पेन जाकर **नौरांज** हो गया । यह **नौरांज** यूरोप-भर मे फैला । इसका आदि आर्य रूप **नरंज** था । यह भारत

का अपना शब्द नही है और न ही यह शब्द नाग रंग से निकला है। भले ही रंग शब्द ईरानी और संस्कृत मे एक ही रूप और अर्थ रखता है। इससे साथ ही यदि कबीर यह भी जानते कि गाड़ी शब्द मागधी-प्राकृत की एक धातु **गड़ई** **'जाता है', 'चलता है'** से निकला है, तो उनको तथा उनके सभी पाठकों को आश्चर्य नही होता, क्योकि वे इन शब्दों की व्युत्पत्ति जान जाते और इस कारण, इतने अधिक आश्चर्य मे नही पड़ते। व्युत्पत्ति मालूम हो, तो शब्द का अर्थ स्वतः खुल जाता है। अब तुलसीदास जी की एक चौपाई लीजिए :

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा।
सहज पुनीत मोर मन लोभा॥

इसमे **लोभा** का अर्थ **'लुब्ध हो गया'** है, इसमे किसी को कोई संदेह नही। लोभ का अर्थ भी हिंदी मे लालच है। तुलसीदास जी ने **लुब्ध मधुप** का भी बार-बार प्रयोग किया है। लुब्ध का अर्थ है 'प्रेम मे फँसा हुआ'। यह बात बहुत कम विद्वान समझते हैं कि **लोभा** का अर्थ 'प्रेम मे फँसा हुआ' है और **लुब्ध** का अर्थ भी वही है। भ्रमर फूलो की सुगंध के मोह मे सदा ही फँसा रहता है। संस्कृत मे भी कई स्थानो पर लोभ का यही अर्थ मिलता है। मोनियर विलियम्स ने लोभ का अर्थ दिया है 'Cupidity, longing for'। जर्मन विद्वानो ने सिद्ध किया है कि यह लोभ अँग्रेजी Love तथा जर्मन liebe का सस्कृत प्रतिरूप है। अब पाठक समझे होगे कि **मोर मन लोभा** का अर्थ हुआ—**मेरा मन सीता पर आसक्त हो गया है** अर्थात **'मैं सीता पर आशिक हो गया हूँ।'** इस शब्द का तुलसीदास जी ने बहुत ही सुंदर और शुद्ध प्रयोग किया है। यह एक प्रकार का शब्दार्थ-विकार है, किंतु यह विकार भारत और इग्लैंड दोनो देशो मे हुआ है। तुलसीदास जी का एक और शब्द लीजिए :

'दीन दयालु बिरद संभारी' का अर्थ कई लोग यह लगाते हैं कि 'हे दीनदयालु राम ! अपने बिरद को संभालकर (हमारा महान् संकट हरिए)।' संभारी भले ही हिंदी की संभालना क्रिया से मिलता है, किंतु प्राकृत में स्मरण का एक रूप संभरण भी है और वही अर्थ स्मरण का शुद्ध अर्थ होता है। 'हे भगवान् तुम्हारी उपाधि दीनदयालु है, इस उपाधि को स्मरण कीजिए (और हमारा महान् संकट हरिए)।' सँभालना का अर्थ गुजराती भाषा मे 'सुनना' हो गया है। मसूरी के रिक्शे वाले जो आवाज लगाते हैं—**संभलो** उसका वास्तविक अर्थ है 'सुनो, तुम्हारे पीछे कोई खतरे की चीज आ रही है।'

तुलसीदास जी तथा अन्य प्राचीन कवियों के ग्रंथो मे एक शब्द मिलता है अनूप। इस अनूप का अर्थ हमारे प्राचीन कवि 'अनुपम' लगाते हैं। हिंदी के प्राचीन कवियो ने अक्षरों का थोड़ा-बहुत साम्य देखकर ही यह अर्थ कर लिया होगा। वास्तव में अनूप की व्युत्पत्ति अनु+अप है और इसका सही अर्थ है **जलमय देश**, ऐसा तुलसीदास जी के रामचरितमानस आदि मे कई जगह आया है। उदाहरणार्थ **मंगल भवन अमंगल हारी,उमा सहित जेहि जपत पुरारी** मे **पुरारी** शब्द महादेव जी के लिए आया है। यह शब्द वास्तव मे **त्रिपुरारी** होना चाहिए, जो रामचरितमानस मे एक-दो बार आया है, किंतु अधिकांश स्थलो पर तुलसीदास जी ने शिवजी के लिए **पुरारी** शब्द ही दिया है, जो अशुद्ध है। मोनियर विलियम्स ने अपने सस्कृत-अँग्रेजी-कोश मे **पुरारी** विष्णु का नाम बताया है। इन्द्र का एक नाम **पुरंदर** है। वैदिक काल और उससे पहले इन्द्र अपने शत्रुओं के नगरो का विध्वंस करने के लिए प्रसिद्ध थे। ऐसा भी संदेह किया जाता है कि सिंध का मोहनजोदड़ो नगर इन्द्र ने ही नष्ट-भ्रष्ट किया था। अवेस्ता मे भी कई स्थानों पर जरथुस्त्र ने अहुर्मज्द से प्रार्थना की है कि अकस्मात नगरो को लूटने और नष्ट-भ्रष्ट करने वाले देव-पूजकों से हमारी रक्षा कर! अतः ऐसा मालूम पड़ता है कि आर्यों का एक गुण शत्रुओं के नगरो को खंडहर बनाना भी था। यहा प्रसगवश ऊपर देव-पूजक शब्द भी आया है, जिसका अर्थ है राक्षसों को पूजने वाले। पाठक जानते ही होंगे कि उर्दू भाषा मे देव शब्द का अर्थ देवता नही है। फारसी के इस देव का रूप यूरोप मे 'Devil' है। संस्कृत में **दिव्** धातु के अर्थ **'चमकना और छलना'** या 'धोखा देना' भी है। दीवाली शब्द फारसी मे मिलता है,जिसका अर्थ है 'छलने के दिन'। यह बात भी हम जानते ही हैं कि भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है-**द्यूतं छलयितामस्मि** अर्थात् **'छलने वालों में मैं जुआ हूं।'** यह **द्यूत** शब्द **दिव 'छलना', 'धोखा देना'** से निकला है। अतः इस **'दिव्'** धातु का यह एक अर्थ 'धोखा देना,' 'छलना' संस्कृत और ईरानी भाषाओं मे समान है; भेद यही है कि हमारा देवता सस्कृत के 'दिव्' (चमकना) धातु से व्युत्पन्न हुआ है। **दिव्** धातु ईरानी भाषाओ में कभी का मर चुका है, इसलिए दूसरे देव के **भारत-ईरानी** भाषाओ में दो विपरीत अर्थ हो गए हैं। कभी-कभी शब्दार्थ-विकार कुछ ऐतिहासिक कारणों से भी हो जाता है, देव जिसका उदाहरण है। भारत मे एक स्थान **देवबन्द** तहसील है। इसका अर्थ है; **'वह स्थान जहाँ हमारे मुसलमान भाइयों ने शैतान को बन्द कर दिया है या बाँध दिया है।'** एक और शब्द लीजिए **असुर**,जो हिन्दी और संस्कृत भाषाओं में राक्षसों के लिये

आता है। तुलसी के ग्रंथो मे असुरो की भरमार है। संस्कृत भाषा मे असुर की एक व्युत्पत्ति दी गई है–'वे लोग जो सुरा नहीं पीते' और सुर की व्युत्पत्ति दी गई है—'वे देवता लोग, जो सुरा पीते हैं।' हम जानते ही है कि इन्द्र सुरा पीने में मस्त रहते है। एक नाटक–'इन्द्र का अखाड़ा'–लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले लिखा गया था। उसमें यही दिखाया गया है कि इन्द्र भगवान् किस प्रकार भोग-विलास में मग्न रहते हैं। शायद इसी कारण सुर की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई हो। ऋग्वेद में एक पद है **'महद्देवानामसुरत्वमेकम्'** अर्थात्'**देवताओं का ईश्वरत्व महान् है और एक है**।'इससे पाठक देखेंगे कि जो असुर शब्द ऋग्वेद मे ईश्वर के लिए आया है, वह ऋग्वेद के बाद के बने कुछ संस्कृत पदो मे राक्षसो के अर्थ में आया है। वास्तव में असुर शब्द असुर्या अथवा असीरिया देश की भाषा का है। प्रायः चार हजार वर्ष पहले एक समय ईरानी और भारती आर्य ईरान और उसके उत्तर मे असीरिया के राजा के अधीन थे। ईरानी लोग स के स्थान पर ह का प्रयोग करते थे, सो उन्होने ईश्वर का नाम **अहुर्मज्द** और भारतीयो ने असुर का उच्चारण ठीक ही किया; और ऋग्वेद मे असुर ईश्वर को कहते हैं। पाठक देखें, इस शब्द के अर्थ का किस प्रकार विकार हुआ है। यह विकार भाषा का एक अखण्ड नियम है। मनु ने एक स्थान पर कहा है—**वाच्यार्था नियताः सर्वे**, अर्थात् जब हम बोलते है, तो हमारे मुँह से जो शब्द निकलते हैं, उन शब्दो के अर्थ निश्चित कर दिए गए है और वे सदा एक ही अर्थ मे प्रयुक्त होते है। यह निष्कर्ष प्राचीन भारत के कुछ विद्वान निकालते थे, किंतु भाषा-विज्ञान ने इस विचार को उलट दिया है। उसने यह प्रमाणित कर दिया है कि ध्वनि की भांति ही शब्दार्थ भी बदलता रहता है। इस पर भगवान की वाणी यदि बिल्कुल ठीक भी मानी जाए, तो उसका प्रयोग करने वाला समाज ऐसी पवित्र वाणी के शब्दार्थ मे भी परिवर्तन ला देता है, जैसे हिंदी को हमारे विद्वान खरी या खड़ी बोली कहते हैं, उसमें प्रसिद्धि या प्रसिद्ध का अर्थ 'नामवरी पाना' या 'मशहूरी पाना' या 'मशहूर होना' है। अब भगवान् का वचन सुनिए :

शरीर-यात्रापि च ते न प्रसिद्धेव कर्मणः

इस श्लोक मे **प्रसिद्धयेत्** का अर्थ प्रसिद्ध होना नही है, किंतु स्पष्ट ही उसका अर्थ है **'किसी काम का सिद्ध होना'** अथवा **'किसी काम का भली भांति सिद्ध होना।'**

प्राचीन समय में कभी-कभी प्र, प्रा आदि उपसर्ग शब्दों के प्रारम्भ में पादपूरण के लिए जोड़ दिए जाते थे। उनका शब्दों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। जैसे रत और निरत में कोई भेद नहीं है। वासी, अभिवासी, अधिवासी, प्रवासी आदि में क्या भेद है, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। शासन, अधिशासन, प्रशासन आदि मे नाममात्र का ही भेद है। संस्कृत-ग्रंथों में उपसर्ग लगाने से धातुओं में थोड़ा भेद होता है, जैसे संहार, उपहार, विहार आदि का भेद स्पष्ट है। प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों मे बहुत से उपसर्ग केवल पादपूरण के लिए जोड़ दिए जाते थे। प्रमुख शब्द मे प्र सार्थक जोड़ा गया है। प्र का अर्थ 'सबसे आगे' अथवा 'आगे' है। शायद इसी कारण हिंदी मे प्रमुख लेखक, प्रमुख कवि, प्रमुख नेता आदि शब्दों का प्रयोग होता है। अब तमाशा देखिए कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से जो प्रमुख शब्द निकला है, उसका हिंदी के प्रमुख से कोई संबंध नहीं। हम लोग पग-पग पर भगवान् की दुहाई देते हैं। गीता ऐसा ग्रंथ है जिसे अधिकांश हिंदू मुखाग्र रखते है, किंतु जब भाषा का सवाल उठता है, तो उस ओर कुछ ध्यान नहीं देते और न ही उसके अर्थ को समझने का प्रयत्न करते हैं। फल यह होता है कि हजारों गीता-सत्संगों की स्थापना होने पर भी, हम गीता की शिक्षा से बहुत दूर रह जाते हैं। भगवान् ने कहा है–तेऽवस्थिता प्रमुखे धार्त्रराष्ट्राः अर्थात् 'ये धृतराष्ट्र के पुत्र सामने खड़े है।' अब पाठक देखें कि प्रमुख का अर्थ 'सामने' अथवा 'हमारे आगे' हैं। अब हमे यह देखना है कि भगवान् की वाणी शुद्ध है या हिंदी मे इसका जो अर्थ लिया जा रहा है, वह ठीक है। भाषा का नियम यह है कि देश, काल, पात्र के भेद से भगवान् के शब्दों का अर्थ भी समाज पलट देता है। इस प्रमुख के उदाहरण मे पाठक इस बात का प्रमाण पाएँगे। पाठक देखें कि भगवान् ने प्रमुख का क्या अर्थ लिया और हमारे विद्वान इसका क्या अर्थ कर रहे हैं। गीता के ही दो और पद लीजिए :

कार्य कर्म-करोति यः, कार्यं कर्म न विद्यते। इस समय हिंदी मे कार्य, काज, कर्म, काम शब्दों में अर्थ का नाममात्र भी अंतर नहीं देखा जाता। प्राचीन कवियों ने भी इन शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है। तब क्या, भगवान् ने कार्य कर्म का प्रयोग अशुद्ध किया है? संस्कृत भाषा के अनुसार कार्य कर्म का उपयोग शुद्ध ही किया है। कार्य का अर्थ है 'करने योग्य'; इस प्रत्यय को हम शिरोधार्य के धार्य शब्द मे भी देखते हैं। शिरोधार्य का अर्थ है

—'शिर मे धरने योग्य'। कृ धातु में प्रत्यय लगाने से कार्य बनता है और धृ मे प्रत्यय लगा कर धार्य। **शिरोधार्य** का अर्थ है 'शिर मे धरने योग्य', इसी प्रकार **कार्य** का अर्थ है 'करने योग्य'। कर्म भी **कृ** धातु से निकला है, जैसे कि धृ धातु, से **धर्म** भ्र धातु से **भ्रम**, मृ धातु से **मर्म** आदि। अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि **कार्य कर्म** सर्वथा शुद्ध प्रयोग है, भले ही भाषा की प्रकृति के अनुसार इसमे विकार आ गया हो और हम इसका अर्थ दूसरा करने लगे हों। **घृणा** का अर्थ वेद मे 'दया' है; यह **घृ**, पिघलना से निकलता है। इसी धातु से मक्खन गलाकर बनाया हुआ **घृत** भी निकला। **घृत** का अर्थ हुआ 'पिघला हुआ'; **घृणा** का अर्थ किया गया 'पिघला हुआ' (हृदय)। अब हमे मैले वस्त्रो, कोढियो आदि से घृणा होती है (घिन लगती है)। **शुक्र** का अर्थ ऋग्वेद मे 'श्वेत' है, सस्कृत मे **शुक्र** 'तारा' दैत्यो का गुरु रह गया और सफेद के लिए शुक्र का रूप शुक्ल बन गया। आजकल हम धन शब्द का अर्थ 'सोना-चादी, संपत्ति' आदि करते हैं। ऋग्वेद मे इसका अर्थ है समर में शत्रुओ को मारकर लूटी हुई संपत्ति। ऋग्वेद का धन शब्द : **धन्** धातु से निकला है। जिसका अर्थ है 'मरना-मारना'। यह धातु धातु-पाठ मे नही पाई जाती। शब्द मरते भी है। यह धन् धातु अब भारत में मर गई, किंतु उनके समय मे अवश्य जीवित रही होगी। **धन प्रधन** का उल्लेख हम कर चुके हैं। इस धन् धातु के शब्द धनुष, धन्वन्, निधन आदि है। कुमाऊँनी भाषा मे एक शब्द **धनीणों** है, जो इसकी परम्परा मे रह गया है। इसका अर्थ है–'किसी पदार्थ की खोज मे भटक-भटक कर फिरना।' यह धातु ग्रीक भाषा में **थेन्** रूप मे है और अर्थ भी वही है जो हमने **धन्** का बताया है। इससे यह सिद्ध होता है कि **धन्** धातु आदि-आर्य भाषा का है, जिसे आर्य अपनी आदिम भूमि मे बोलते रहे होंगे। अर्थ-परिवर्तन का माहात्म्य देखिए कि धन् का अर्थ अब हम कुछ दूसरा ही करते हैं। शब्दार्थ-विकार के ऐसे ही अन्य सैकड़ों उदाहरण और दिए जा सकते हैं।

भाषा विज्ञान का जन्मदाता—भारत

भाषा विज्ञान प्रारंभ करने का गौरव भारतीय आर्यों को है। ऋग्वेद का अर्थ समझना और पदों का ठीक-ठीक अर्थ लगाना अति प्राचीन काल में कठिन हो गया था। पाठक ऋग्वेद का अर्थ स्पष्टत. समझें, इस कारण शाकल्य ने, ऋग्वेद का पद-पाठ तैयार किया। यह पद-पाठ हमारी आज तक बड़ी सहायता कर रहा है। वैदिक भाषा आदि आर्य भाषा की एक बोली थी जिसे भारतीय आर्य आदि आर्य भूमि से अपने साथ लाए थे प्राग्-भारतीय आर्यों की भाषा की रूपरेखा का आभास मितान्नि नाम के छोटे राष्ट्र और वहाँ बसने वाले आर्यों मे मिलता है। मितान्नि राष्ट्र सीरिया के आस-पास में था। खित्ताइत (Hittite) राष्ट्र के बगल मे मितान्नियो ने अपना छोटा राष्ट्र बसाया था। खित्ताइत राष्ट्र महान शक्तिशाली था इसका वर्णन प्राचीन बाइबिल मे बार-बार आया है और वहाँ इसका नाम खेत दिया गया है। मितान्नि राष्ट्र ने इस खित्ताइत राष्ट्र के साथ संधि की और इस संधि मे इंद्र, वरुण, नासात्या आदि भारतीय देवताओ की शपथ ली और उन्हे साक्षी रखा। ईंटो मे खुदी हुई यह संधि बोगाज्कोई के ईंटो के ढेरो मे मिली है। खित्ताइत भी आर्य थे। उनकी भाषा भी 4,000 वर्ष पुरानी आर्यभाषा है; किंतु वह भारत की ओर आने वाली आर्य भाषा नही है। यह भाषा यूरोप की ओर गई। मितान्नि राष्ट्र की भाषा भारतीय आर्यो की प्राग्-भारतीय आर्य भाषा है। यह भाषा आर्यो के भारत आने के समय कुछ सौ वर्षों तक हिंदुकुश, पामीर आदि ईरान के पड़ोस के ऊंचे पर्वतो मे भी रही और भारतीय आर्यों की अपनी भाषा के रूप में ही रही। ईरानियों में एक आदत थी कि वे भारतीय स, श ,ष, को भी ह ही बोल सकते थे। पाठको ने नासत्या शब्द मे देख लिया है कि मितान्नि राष्ट्र की जनता खित्ताइत लोगो से संधि करते समय भारतीय 'स' का उच्चारण 'स' ही करती थी 'ह' नही। जिससे प्रमाणित होता है कि आदि

आर्य भूमि मे प्राग्-भारतीय भारतीयो की भाषा मे भारतीयपन आ चुका था और वे ईरानियों से थोड़ी भिन्न भाषा बोलते होगे क्योंकि ईरानियो की स के स्थान पर ह बोलने की आदत आदि-आर्य भूमि से ही पडी होगी तथा भारतीय वैदिक भाषा का रूप बोलते होंगे।

जो हो, वैदिक भाषा मे कुछ प्राग्-भारतीय रूप भी वर्तमान हैं। इन रूपो को शाकल्य के पद-पाठ ने कही-कही खोला है। उदाहरणार्थ, खित्ताइत या खत्ती भाषा मे क और ग में कोई भेद नही था, न ही त और द और प तथा व मे भेद मिलता है। ऋग्वेद के देवत्त शब्द मे कुछ ऐसी ही प्रक्रिया चलती है। शाकल्य ने देवत्त का रूप देवदत्त दिया है। वैदिक व्याकरण मे देखिए कि दत्त शब्द को वेदों के ऋषियो ने त्त के भीतर ही मिला दिया है। थोडा विचार कीजिए कि जब संस्कृत मे हम तत् शब्द लिखते हैं तो कोई इन शब्दों को मिलाना नही और दत्त शब्द दत्त रूप मे ही चलता है न कि 'त' रूप में। वेद मे ऐसी अनियमित बातें थी जो आदि आर्य काल की मालूम पडती है, क्योंकि उस समय ध्वनि की स्पष्टता के लक्षणों का आर्यों को पता न था। एक और उदाहरण देखिए, ऋग्वेद मे बहुवचन के रूप मे देवास' और जनाम जैसे शब्द मिलते है। पद-पाठ के बाद कुछ विद्वानों ने ये अनियमितताएँ देखी और उन्हे लगन लगी कि अपनी भाषा के इन दोषो को शुद्ध कर लिया जाए। यूरोप के कुछ विद्वानो का तीन-चार सौ साल पहले भाषा के संबध में *यह मत था कि समाज के कुछ विद्वानो ने मिलकर भाषा का रूप* बनाया था। अब इस मत के अनुयायी नही के बराबर रह गए हैं, किंतु यह तो संस्कृत के विषय मे निश्चय ही कहा जा सकता है कि कुछ चोटी के विद्वानों ने वैदिक भाषा को छाना-फटका, उसकी चीरफाड़ की तथा भारतीय आर्य शब्दों का बहुत सूक्ष्म रीति से संस्कार किया। विद्वानो की यह संशोधित भाषा संस्कृत कहलाई और न मालूम उन विद्वानों को आदि-आर्य भूमि के व्याकरण के कौन-कौन से नियम याद थे कि यूरोप के भाषावैज्ञानिको ने आरंभ मे संस्कृत भाषा को ही आदि आर्य भाषा के रूप मे देखा।

शाकल्य के बाद निरुक्तकार यास्काचार्य का बहुत बड़ा महत्व है। एक भाषा विज्ञानी ऋषि कौत्स के वेदो मे निकाले हुए भाषा संबंधी नाना दोषो का निराकरण करना यास्काचार्य का पहला उद्देश्य था। कौत्स किसी कुत्स ऋषि के पुत्र थे यह उनके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। कुत्स ऋषि ने वेदो

की भाषा पर कुछ आक्षेप किए या नहीं इस विषय पर संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में कहीं कुछ पता नहीं चलता; किंतु उनके नाम से यह ध्वनि निकलती ही है कि वे संभवत. वेदों की कुत्सा करते होंगे। उनके पुत्र कौत्स का तो यास्काचार्य ने स्पष्ट ही उल्लेख किया है कि वे वेदों की भाषा की निंदा करते थे, क्योंकि उन्होंने बताया है कि वेदों के ऋषि भाषा के विद्वान नहीं थे। इस कारण वैदिक ऋषियों ने कई साधारण शब्द समान रूप से प्रायः सब देवताओं की प्रशंसा में प्रयुक्त किए हैं। यह बात सुन या पढ़कर निरुक्त में बताया गया है कि वैदिक शब्द लौकिक शब्दों की भाँति ही युक्तियुक्त रूप में वेदों में काम में लाए गए हैं। इससे विदित होता है कि भारत के भाषा वैज्ञानिकों ने वैदिक भाषा में भी अशुद्धियाँ ढूंढ निकालने में कोई आनाकानी नहीं की। यास्काचार्य ने कौत्स जैसे भाषा में सर्वत्र दोष ढूंढने वाले ऋषियों का खंडन किया है और बताया है कि शब्द चाहे लौकिक हो चाहे वैदिक सयुक्तिक और सव्युत्पत्तिक होते हैं। उन्होंने बड़े महत्व का एक सिद्धांत यह भी बताया कि शब्द भले ही घिस जाएं या विकृत हो जाएं फिर भी उनकी व्युत्पत्ति अवश्य ही रहती है, भले ही शब्द का मूल रूप पहचानने में कुछ कठिनाई का सामना करना पड़े। जब उन्होंने लिखा कि "प्रथमो प्रतमो बभूव," तो उन्होंने हमें भाषाविज्ञान का प्रथम पाठ सिखाया। उनका ठीक ही कहना था कि प्रथम शब्द में **थ**, **त** का विकृत रूप है। **प्रथम** कहने से हमें मूल रूप नहीं मिलता, इसका **थ** आरंभ में **त** था, जनता की जबान ने प्र+तम को बिगाड़ कर **प्र+थम** कर दिया। यह ध्वनि परिवर्तन संसार की सब भाषाओं का एक नियम है जो निरंतर चलता रहता है। हिन्दी को ही देखिए, शुद्ध रूप छ (6) था जो भाषा को ठीक-ठीक न जानने वाले कुछ लेखकों की कलम से छह और छ लिखा जा रहा है। ये छह और छ. न हिंदी है, न उर्दू है, और न प्राकृत। हम **छमाही** कहते हैं न कि **छहमाही**।

यास्काचार्य ने भाषा विज्ञान के कुछ और तत्व भी सिखाए। उन्होंने बताया कि लौकिक भाषा में बिल 'छिद्र, विवर' वेदों के समय भी इसी रूप में था; किंतु यह ध्वनि विकार का परिणाम है। **बिल** या **विल** वास्तव में **भिद्** धातु का एक रूप है। इस महान भाषा विज्ञानी को दंडवत् कीजिए कि अढ़ाई हजार वर्ष पहले घोषणा कर गया कि ध्वनि परिवर्तन का नियम अपरिवर्तनशील है। यह नियम आज सारे संसार की सब भाषाओं में काम करता हुआ देखा जा रहा है और भाषा विज्ञान का यह नियम संसार को भारत की देन

आर्य भूमि मे प्राग्-भारतीय भारतीयों की भाषा मे भारतीयपन आ चुका था और वे ईरानियो से थोडी भिन्न भाषा बोलते होंगे क्योंकि ईरानियो की स के स्थान पर ह बोलने की आदत आदि-आर्य भूमि से ही पडी होगी तथा भारतीय वैदिक भाषा का रूप बोलते होंगे।

जो हो, वैदिक भाषा मे कुछ प्राग्-भारतीय रूप भी वर्तमान हैं। इन रूपो को शाकल्य के पद-पाठ ने कही-कही खोला है। उदाहरणार्थ, खित्ताइत या खत्ती भाषा मे क और ग मे कोई भेद नही था, न ही त और द और प तथा व मे भेद मिलता है। ऋग्वेद के देवत्त शब्द मे कुछ ऐसी ही प्रक्रिया चलती है। शाकल्य ने देवत्त का रूप देवदत्त दिया है। वैदिक व्याकरण में देखिए कि दत्त शब्द को वेदो के ऋषियो ने त्त के भीतर ही मिला दिया है। थोडा विचार कीजिए कि जब संस्कृत मे हम तत् शब्द लिखते हैं तो कोई इन शब्दो को मिलाता नही और दत्त शब्द दत्त रूप में ही चलता है न कि 'त' रूप मे। वेद मे ऐसी अनियमित बातें थी जो आदि आर्य काल की मालूम पड़ती है, क्योंकि उस समय ध्वनि की स्पष्टता के लक्षणो का आर्यों को पता न था। एक और उदाहरण देखिए, ऋग्वेद मे बहुवचन के रूप मे देवास और जनास. जैसे शब्द मिलते हैं। पद-पाठ के बाद कुछ विद्वानों ने ये अनियमितताएँ देखी और उन्हे लगन लगी कि अपनी भाषा के इन दोषो को शुद्ध कर लिया जाए। यूरोप के कुछ विद्वानो का तीन-चार सौ साल पहले भाषा के सबध मे यह मत था कि समाज के कुछ विद्वानो ने मिलकर भाषा का रूप बनाया। अब इस मत के अनुयायी नही के बराबर रह गए हैं, किंतु यह तो सस्कृत के विषय मे निश्चय ही कहा जा सकता है कि कुछ चोटी के विद्वानो ने वैदिक भाषा को छाना-फटका, उसकी चीरफाड़ की तथा भारतीय आर्य शब्दो का बहुत सूक्ष्म रीति से संस्कार किया। विद्वानो की यह संशोधित भाषा संस्कृत कहलाई और न मालूम उन विद्वानो को आदि-आर्य भूमि के व्याकरण के कौन-कौन से नियम याद थे कि यूरोप के भाषावैज्ञानिको ने आरंभ मे सस्कृत भाषा को ही आदि आर्य भाषा के रूप मे देखा।

शाकल्य के बाद निरुक्तकार यास्काचार्य का बहुत बड़ा महत्व है। एक भाषा विज्ञानी ऋषि कौत्स के वेदो मे निकाले हुए भाषा सबधी नाना दोषो का निराकरण करना यास्काचार्य का पहला उद्देश्य था। कौत्स किसी कुत्स ऋषि के पुत्र थे यह उनके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। कुत्स ऋषि ने वेदो

की भाषा पर कुछ आक्षेप किए या नहीं इस विषय पर संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में कहीं कुछ पता नहीं चलता; किंतु उनके नाम से यह ध्वनि निकलती ही है कि वे संभवत. वेदों की कुत्सा करते होंगे। उनके पुत्र कौत्स का तो यास्काचार्य ने स्पष्ट ही उल्लेख किया है कि वे वेदों की भाषा की निंदा करते थे, क्योंकि उन्होंने बताया है कि वेदों के ऋषि भाषा के विद्वान नहीं थे। इस कारण वैदिक ऋषियों ने कई साधारण शब्द समान रूप से प्रायः सब देवताओं की प्रशंसा में प्रयुक्त किए हैं। यह बात सुन या पढ़कर निरुक्त में बताया गया है कि वैदिक शब्द लौकिक शब्दों की भाँति ही युक्तियुक्त रूप में वेदों में काम में लाए गए हैं। इससे विदित होता है कि भारत के भाषा वैज्ञानिकों ने वैदिक भाषा में भी अशुद्धियां ढूढ़ निकालने में कोई आनाकानी नहीं की। यास्काचार्य ने कौत्स जैसे भाषा में सर्वत्र दोष ढूढ़ने वाले ऋषियों का खंडन किया है और बताया है कि शब्द चाहे लौकिक हों चाहे वैदिक सयुक्तिक और सव्युत्पत्तिक होते है। उन्होंने बड़े महत्व का एक सिद्धांत यह भी बताया कि शब्द भले ही घिस जाएं या विकृत हो जाएं फिर भी उनकी व्युत्पत्ति अवश्य ही रहती है, भले ही शब्द का मूल रूप पहचानने में कुछ कठिनाई का सामना करना पड़े। जब उन्होंने लिखा कि "प्रथमो प्रतमो वभूव," तो उन्होंने हमें भाषाविज्ञान का प्रथम पाठ सिखाया। उनका ठीक ही कहना था कि प्रथम शब्द में थ, त का विकृत रूप है। प्रथम कहने से हमें मूल रूप नहीं मिलता, इसका थ आरंभ में त था, जनता की जबान ने प्र+तम को बिगाड़ कर प्र+थम कर दिया। यह ध्वनि परिवर्तन संसार की सब भाषाओं का एक नियम है जो निरंतर चलता रहता है। हिन्दी को ही देखिए, शुद्ध रूप छ (6) था जो भाषा को ठीक-ठीक न जानने वाले कुछ लेखकों की कलम से छह और छ: लिखा जा रहा है। ये छह और छः न हिंदी है, न उर्दू हैं, और न प्राकृत। हम छमाही कहते हैं न कि छहमाही।

यास्काचार्य ने भाषा विज्ञान के कुछ और तत्व भी सिखाए। उन्होंने बताया कि लौकिक भाषा में बिल 'छिद्र, विवर' वेदों के समय भी इसी रूप में था; किंतु यह ध्वनि विकार का परिणाम है। बिल या बिल वास्तव में भिद् धातु का एक रूप है। इस महान भाषा विज्ञानी को दंडवत् कीजिए कि अढ़ाई हजार वर्ष पहले घोषणा कर गया कि ध्वनि परिवर्तन का नियम अपरिवर्तनशील है। यह नियम आज सारे संसार की सब भाषाओं में काम करता हुआ देखा जा रहा है और भाषा विज्ञान का यह नियम संसार को भारत की देन

है। यहाँ यास्काचार्य ने बता दिया है कि ष अक्षर स में भी बदल जाता है। यह नियम प्राकृतों में बहुत दिखाई देता है। द्वादश का प्राकृत में दुवालस हो जाता है। धन्य है यास्काचार्य कि इन्होंने ध्वनि परिवर्तन का नियम साफ-साफ देख लिया। साथ ही उन्होंने यह बात भी भाषा के प्रबल पांडित्य के जोर से देख ली कि शब्दों के अक्षर घिसते जाते हैं। कुमाऊँनी में पीछे को पच्छा कहते हैं। प्राकृत में इसका रूप पच्छा है। संस्कृत में पश्चात् का एक रूप पश्चा भी है। इससे प्राकृत का पच्छा निकला। यास्काचार्य ने अपने निरुक्त में एक और बात भाषा की व्युत्पत्ति के संबंध में समझाई है कि अस्पष्ट शब्द और वे शब्द जिनके अर्थ नहीं निकलते स्पष्ट मूल शब्दों के घिसे-भंजे रूप होते हैं। उदाहरणार्थ उन्होंने बताया है कि वराह शब्द का कोई अर्थ नहीं निकलता। यह शब्द पहले सार्थक वराहार के रूप में था। इसका आर लोगों की जबान में घिस गया और वह वराह हो गया। इस कारण यह समझना चाहिए कि प्रत्येक शब्द मूल रूप में सार्थक रहता है। भाषा विज्ञान के जर्मन महापंडित क्लूगे महोदय ने जर्मन शब्द (फुख्स Fuchs)'लोमड़ी' शब्द की व्युत्पत्ति की खोज करते-करते इस शब्द को संस्कृत और आदि-आर्य शब्द पुच्छ से निकाला है। इस कारण वेब्स्टर के अंग्रेजी कोश में अंग्रेजी शब्द (फॉक्स Fox) का मूल रूप पुच्छ दिया गया है यह सिद्धांत भी भारत के भाषा वैज्ञानिकों ने ही निकाला।

यास्काचार्य के बाद वैयाकरण शाकटायन ने संस्कृत भाषा के शब्दों का रहस्य खोल दिया। उन्होंने अपने सूत्र—सर्वाणि नामानि आख्यातजानि—अर्थात् जितने नाम या संज्ञाएँ हैं उनके भीतर ऐसा एक बीजाक्षर छिपा रहता है, जो सारे शब्द का अर्थ खोल देता है। इसमें बताया है कि संस्कृत शब्द अपना अर्थ स्वयं स्पष्ट कर देते हैं।

कुछ शब्द लीजिए स्थान शब्द स्था 'रहने' से निकला है। ज्ञान शब्द ज्ञा 'जानना' से निकलता है। विस्तार शब्द वि+स्तृ से निकलता है। ऋग्वेद में तारों के लिए स्तृ शब्द आया है। पाठक देखेंगे कि यह आदि-आर्य शब्द है, क्योंकि अंग्रेजी स्टार, जर्मन स्टर्न, ग्रीक एस्टर, लैटिन स्टैला, फारसी सितारा आदि सब स्तृ 'बिखरना', 'फैलना' के ही रूप हैं। आप रात्रि में मेघहीन आकाश को देखिए सारे गगन मंडल में तारे बिखरे पड़े रहते हैं। हमारा तारा शब्द अथर्ववेद में आया है जिसका स् घिस गया है। इन शब्दों से पाठक समझेंगे कि संस्कृत के शब्द सदा सार्थक रहते हैं। एक शब्द और लीजिए,

संस्कृत के एक शब्द मे आख्यात ए है इस आख्यात को बीजाक्षर कहना चाहिए, क्योंकि ए का अर्थ 'यह' है जब एक शब्द रचा गया तब यह ध्यान मे रखा गया कि यह ए शब्द पहले किसी एक विशेष को बताने के काम में आता रहा होगा। उसी प्रकार का शब्द अन्न है जिसमे अ बीजाक्षर का अर्थ भी 'यह' है। भले ही और भाषाओ में कई अन्य कारणो से भी शब्द बनते हों, परंतु संस्कृत में शब्द ऐसे उपकरणों से बनते हैं जो अपना अर्थ खोल देते हैं। पाणिनि ने भी यही प्रयत्न किया कि प्रत्येक संस्कृत शब्द सार्थक सिद्ध हो जाए।

भारत मे जितनी आर्य भाषाएँ हैं वे संस्कृत से निकली हैं। संस्कृत के रूप घिस-घिस कर बाद को चाहे जैसे हो गए हों। एक शब्द अचानक लीजिए। आप लाख मर पटकें उसकी व्युत्पत्ति नही निकाल सकते। इसकी व्युत्पत्ति अपभ्रंश शब्द अजाणक 'जाना हुआ नहीं' है। अजाणक संस्कृत नही है किंतु संस्कृत का विकृत रूप है। अजाणक का मूल ढूँढेंगे तो अज्ञानक के समान कोई रूप मूल मे मिलेगा। बिना संस्कृत मूल के भारत की किसी आर्य भाषा की गति नही जो भी प्राकृत आप लें उसका आधार संस्कृत भाषा ही रहेगी और वेद के वे शब्द भी रहेंगे जिनमें से बहुतों का प्रचलन संस्कृत से भी उठ गया। उदाहरणार्थ कुछ आदि-आर्य धातु जैसे धन "मरना-मारना" स्वयं वेदों में नहीं मिलता, भले ही उसके रूप धन–लड़ाई मे लूटी हुई सम्पत्ति प्रधन "युद्ध, समर"—मरने के साथ, वेद मे मिलते हैं। गीता में धनंजय का अर्थ युद्ध मे विजयी है। ये शब्द तो मिलते हैं किंतु इनकी धातु वेदो मे नही मिलती। इसी प्रकार अन्य कई धातुएँ हैं जिनसे बने शब्द वेदो में हैं, किंतु उनकी धातुएँ लुप्त हो गई हैं। गण, गणपति, ग्ना 'देवताओं की स्त्री' शब्द ऋग्वेद में आए हैं, किंतु उनकी धातु गन (जन) वेदो से भी लुप्त हो गई। ग्रीक भाषा मे यह गेन् रूप में वर्तमान है। संसार की आर्य भाषाओं के शब्द अधिकांश मे संस्कृत की ही भाँति बनते हैं। यदि हम यह समझें कि हिंदी, बँगाली, मराठी, आदि भाषाएँ संस्कृत से नहीं निकली अथवा मान लीजिए कि वे संस्कृत के किसी दूसरे रूप से निकली हो तो हम भाषाविज्ञान से शून्य माने जाएँगे, क्योंकि हम सब जानते हैं कि आर्य भाषा भारत में वैदिक या संस्कृत भाषा के रूप मे आई है। यदि कोई भाषा संस्कृत से न निकली हो तो वह द्रविड़ या इसी प्रकार की अन्य भाषा होगी। हिंदी संस्कृत से निकली न हो तो वह द्रविड या इसी प्रकार की अन्य भाषा होगी। हिंदी संस्कृत से

निकली हुई प्राकृतों के द्वारा हमारे पास तक पहुँची है। प्राकृत पच्छा को हम भले ही मुख-सुख का ध्यान रखकर पच्छा कह दे तो भी वह पश्चात का ही एक रूप है। हिंदी का एक शब्द भी ऐसा नही है जो परंपरा से न आया हो। ध्यान रखना चाहिए कि संसार की सभी भाषाओ के शब्द परपरा से ही आते है। अन्य शब्द जो किसी भाषा में परंपरा से नही आते वे विदेशी होते हैं। सभ्य भाषाओं की परंपरा स्थायी साहित्य के रूप मे होती है। हमारा श्रुति शब्द बतलाता है कि वेद, ब्राह्मण आदि ग्रंथों को हम सुन-सुनकर याद करते थे। जिस भाषा की परपरा में साहित्य नही होता वह भाषा असभ्य होती है। अमेरिका के रेड इंडियनो की भाषाओ मे प्राचीन स्थायी साहित्य नही मिलता। इस कारण वे असभ्य गिनी जाती है। मान लीजिए हम हिंदी को *वैदिक, संस्कृत अर्धमागधी, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश जैसे साहित्य-पूर्ण* परंपरा द्वारा आई हुई न मानेंगे तो ससार के भाषा विज्ञानी इसे सभ्य भाषा नही कह सकते; किंतु हिंदी के पीछे, उसकी परपरा मे उक्त सब भाषाएं मिलती हैं और उनका साहित्य भी मिलता है। हिंदी का एक शब्द भी ऐसा नही है जो विकृत होने पर भी परंपरा हीन सिद्ध हो। कोई परंपरा न मिलेगी तो भी प्राकृतो मे प्रयुक्त देशी शब्दो मे उसका रूप मिलेगा। इस कारण हजारो पूर्वी और पश्चिमी विद्वानो ने हिंदी की परंपरा निश्चित कर ली है। हिंदी मे सदा से संस्कृत और प्राकृत शब्दो का अत्यधिक प्रचलन रहा है। आज भी हम जो हिंदी लिखते हैं उसमे हमारी परपरा के अनुसार संस्कृत और उससे निकली हुई प्राकृतो के ही शब्द है। खेद का विषय है कि हिंदी के पचानबे प्रतिशत विद्वान संस्कृत की पुत्रियाँ पाली और प्राकृतो से अनभिज्ञ हैं। बिना इनका पूर्ण ज्ञान प्राप्त किए हुए ही कुछ विज्ञान हिंदी के महापंडित बन जाते है। यूरोप मे पाली और प्राकृतों पर सैकडो ग्रंथ ऐसे लिखे गए हैं कि उन्हें देख हिंदी के विषय मे हमारी आँखें खुल जाती है।

ईसाई धर्म ने संसार का बहुत कल्याण किया है। यूरोप और अमेरिका के ईसाई अपनी सच्चाई, ईमानदारी और परिश्रम के बलबूते पर ही आज ज्ञान-विज्ञान, धन-सम्पत्ति मे बहुत आगे चले गये हैं। स्वय संस्कृत का ज्ञान *यूरोप के पंडितो ने बहुत आगे पहुँचा दिया है। यह अध्ययन प्रायः डेढ़ सौ साल* से चल रहा है और संस्कृत का एक शब्द ऐसा नही रह गया जिसका सव्युत्पत्तिक शुद्ध अर्थ आँखों के सामने न आ गया हो। तो भी ईसाई धर्म के पुरोहितो के इस विश्वास ने कि ईश्वर की वाणी इबरानी थी, भाषा-शास्त्र

को आगे बढ़ाने से प्रायः सोलह सौ साल तक रोक रखा था। धर्म का अंध-विश्वास इतिहास भर में अनर्थकारक सिद्ध हुआ है। एक डच पादरी ने बताया था कि भगवान डच बोलता था, आदम स्वीडिश भाषा में बात करता था और साँप जर्मन भाषा में बोलता था। हमारी देववाणी संस्कृत है। खेद है कि ऐसे मत देने वालों में से एक ने भी ईश्वर के साक्षात्कार नहीं किए। जो हो, जब सर विलियम जोंस ने कलकत्ते की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना करते समय जोरदार शब्दों में घोषणा की कि संस्कृत ग्रीक भाषा से भी सुललित, और समृद्ध तथा लैटिन भाषा से भी भरी पूरी है, तब यूरोप भर के विद्वानों की आँखें खुल गईं। (भारत में किसी तथाकथित विद्वान के कानों में इस घोषणा से जूँ तक न रेंगी) और तमाशा देखिए, स्कॉटलैंड के एक बहुत बड़े विद्वान डुगलस स्टैवार्ड को सर विलियम जोंस के वाक्य तीर की तरह चुभे और उन्होंने आव देखा न ताव अपना सुविचारित मत दे ही दिया कि भारत के ब्राह्मण धूर्तता में संसार भर के कान काटते हैं, उन्होंने एक नई धूर्तता का आविष्कार किया है कि ग्रीक और लैटिन भाषा का पूर्ण अध्ययन करके एक भाषा बना ली है जिसका नाम रखा है—संस्कृत। इनकी धूर्तता की हद देखिए कि इस संस्कृत भाषा में इन्होंने बड़ी शीघ्रता के साथ सैंकडों बड़े-बड़े पोथे लिख डाले हैं। इन स्टैवर्ड साहब को बाद में मानना पड़ा कि संस्कृत भाषा ग्रीक और लैटिन से मिलती है तथा उनसे भी कुछ प्राचीन है। सर विलियम जोंस की घोषणा ने यूरोप के भाषा विज्ञान के प्रेमियों में संस्कृत के भक्त पैदा कर दिए। जर्मनी के नव युवक श्लैगिल, बौप आदि ने पेरिस जाकर संस्कृत के अध्ययन में अपनी जान खपा दी। श्लैगिल ने जब देखा कि संस्कृत शब्द मनुष्य जर्मनी शब्द म्यंश(Mensch)का पूर्वज है तो वह नाच उठा। पाठक ताड़ गए होंगे कि जर्मन भाषा में मनुष्य को म्यंश कहते हैं। बौप साहब ने 1816 ई० में संस्कृत भाषा का एक तुलनात्मक व्याकरण लिखा जिसमें संस्कृत की तुलना अवेस्ता और कुछ यूरोपियन भाषाओं से की। बाद में बौप साहब ने कई आर्य भाषाओं का अध्ययन किया और तीन बड़े-बड़े खंडों का ग्रन्थ लिखा, जिसमें संस्कृत, अवेस्ता (जेंद) गौथिक, ग्रीक, लैटिन, स्लैवेनिक आदि आर्य भाषाओं के शब्दों और व्याकरण के रूपों का मिलान करके प्रमाणित कर दिया कि सभी आर्य भाषाएँ एक आदि-आर्य भाषा की पुत्रियाँ और पौत्रियाँ हैं। वे संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि की प्राकृतों द्वारा हमारी आधुनिक-आर्य-भाषाओं के रूप में आई हैं।

आर्य भाषाओं के विषय में जो शोध बाकी रह गई थी वह वेबर,

लासन, कुर्टिउस, ब्रुगमान, बेनफे, आउफरेप्ट, पिशल आदि ने पूरी कर दी। तुलनात्मक भाषा शास्त्र, जिसमे यूरोपियन भाषाओ के साथ संस्कृत के शब्दो और व्याकरण के रूपो की तुलना की गई है, प्रायः दस हजार उत्तम और प्रामाणिक ग्रंथो से भरा पूरा है। इन्हें पढ़कर इन यूरोपियन विद्वानों के पूर्ण पांडित्य और गंभीर अध्ययन को देख दाँतो तले अँगुली दबानी पडती है। वेदों के जिन रहस्यो को हम हजारो वर्षों से दुहराते आ रहे है उनका रहस्य इन यूरोपियन विद्वानो ने ऐसा खोल दिया है कि उसे समझ कर हम आश्चर्य मे पड जाते हैं तथा हमे प्राचीन भारतीय भाषाओ से लेकर नवीन आर्य भाषाओ तक का मार्ग साफ-साफ दिखाई देता है। इसकी आवश्यकता नही पडती कि हम अर्धमागधी की पाली अथवा अठारह अन्य प्राकृतो को छोड़ हिंदी भाषा के शब्दो की व्युत्पत्ति निकालने के लिए अथवा हिंदी शब्दो का वर्तमान रूप निश्चित करने के लिए अपनी कपोल कल्पना के प्रमाण दें कि हिंदी अब-तक के जाने हुए मार्ग से न आकर किसी कपोल कल्पित साहित्यहीन अज्ञात प्राकृत से आई होगी।

इधर कुछ विद्वान ऐसे ही प्रमाणो पर हिंदी और हिंदी शब्दों को भारत की किसी अज्ञात भाषा से जन्मा हुआ मानते है। यह भ्रामक धारणा अमूलक, अकारण और हिंदी भाषा की परपरा का पूरा ज्ञान न होने के कारण जन्मी है, क्योंकि इतिहास बताता है कि अढाई हजार वर्ष पूर्व के शिलालेखो मे डेरियस नामक ईरान के प्रतापी सम्राट ने अपने शिलालेखो मे हिंद, हिंदु शब्द खोद रखे हैं जिन्हे प्रसिद्ध ऐतिहासिक हैनरी रौलिंसन साहब बडी कठिनता और निरंतर प्रयत्न करने पर पढ सके। इस शब्द का प्रचार यूनान मे भी हुआ जहाँ हिंद का ह लुप्त हो गया और यह शब्द इन्द रूप मे वहाँ की भाषा मे चलने लगा। हिंद शब्द का अरब मे भी प्रचार हो गया। भारत के अको का अरब मे प्रचार हुआ तो अरब वालो ने भारत से आए हुए अको का नाम हिंद-सा रख दिया। ज्योतिष के एक सिद्धात ग्रंथ का अरबी मे अनुवाद हुआ। उसका नाम पडा हिंद-सिंध। प्राय ग्यारह सौ वर्ष पहले इब्न-बतूता ने अपनी भारत-यात्रा का वर्णन अरबी मे लिखा जिसका नाम है तवारीख-उल्-हिंद। इससे पाठक समझ जाएंगे कि हिंद और इन्द शब्द अढाई हजार वर्ष से विदेशो मे धडल्ले से चल रहे हैं। भारत मे वैदिक काल से अपभ्रंश काल तक हमारे एक ग्रंथ मे भी हिंद शब्द नही मिलता। केवल एक नए ग्रंथ मे इसका उल्लेख सुना जाता है। यदि यह शब्द भारतीय आर्य भाषाओ से निकला होता तो

इसका अपने शास्त्रों, पुराणो आदि मे वार-वार नाम आता। ऐसी वातों को, जिनके न प्रमाण हैं, न अपने देश मे इनकी कोई चर्चा मिलती है—भारतीय वताना कपोल-कल्पना की वड़ी भद्दी उड़ान है और विद्वानों के लिए ऐसी प्रमाण रहित वातें लिखना सर्वथा अनुचित है

भापा विज्ञान का महत्व स्वय ग्रीस के विद्वान और दार्शनिक न समझ सके। ग्रीम देश की सभ्यता और संस्कृति वहुत ऊँची थी। वहाँ की कला और साहित्य इतने उन्नत हो गए थे कि आज का उन्नत संसार भी उनकी वाह-वाह कर रहा है, किंतु यह महान आश्चर्य की वात है कि ग्रीस मे वहाँ के दर्शनिको और साहित्यिको ने कभी भापा-विज्ञान की ओर ध्यान न दिया। ग्रीक भापा का व्याकरण दो हजार वर्ष पहले मिश्र देश के प्रसिद्ध नगर सिकंदरिया मे जन्मा और वह अपने देश मे न पनपा। रोम नगर में ग्रीक व्याकरण सिखाने के लिए सिकंदरिया से गुरू वुलाए गए तथा रोमनों ने पहले-पहल ग्रीक व्याकरण सीखा। तो भी यह जानकर भापा-विज्ञानी आश्चर्य में पड़े हुए है कि ग्रीस देश में सभ्यता और संस्कृति इतनी उच्च शिखर पर चढ़ चुकी थी कि उसकी कला-कृतियाँ जो लंदन और पेरिस आदि के संग्रहालयो मे इस समय सुरक्षित हैं, उन्हें देख, कला के पारखी मंत्र-मुग्ध से उनकी सूक्ष्म कला का सौंदर्य देख, आनंद मे मग्न हो जाते हैं और आज भी कला इस ऊँचाई तक न पहुँच सकी तो भी क्या कारण है कि महान नाटककारों और कवियो को जन्म देकर ग्रीक भापाविज्ञान का अन्वेषण न कर सका। जैसा पाठक ऊपर देख चुके हैं कि भारत में प्राय. तीन हजार वर्ष से यह प्रयत्न किया गया कि शब्दों की चीरफाड़ करके उसका मर्म समझा जाए। यास्काचार्य ने तो भापाविज्ञान के मूल नियम खोज ही दिए। ध्वनि परिवर्तन का नियम यास्काचार्य ने देख लिया था। इतना यास्काचार्य ने देख लिया था कि मूल शब्द सार्थक थे। वे घिस-मंजकर विकृत हो गए। यदि इन विकृत शब्दों को समझना होगा तो उन्हें उनके मूल रूप मे देखना होगा। यास्काचार्य ने यह भी स्पष्ट कर रखा है कि संस्कृत के प्रत्येक शब्द के भीतर आ-ख्यात होता है जिन्हें ढूंढ कर ही हम व्युत्पत्ति के क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरणार्थ एक शब्द अग्नि लीजिए—इसका अर्थ आप तव तक लाख यत्न करने पर भी नही समझ सकते जव तक आप उसका आख्यात न समझें। अग्रे नयति इति अग्निः से इसकी व्युत्पत्ति और अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। यह वात अन्य भापाओं में न मिलने पर भी थोड़ी वहुत सव मे रहती है। आख्यात

हिन्दी की व्युत्पत्ति

प्रायः एक सौ अस्सी वर्ष पुरानी बात है। कुछ अँग्रेजों ने संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करना आरम्भ किया। 1785 ई० में यूरोप में पहले-पहल चार्ल्स विलकिन्स ने भगवद्गीता का अनुवाद प्रकाशित करवाया। इसने यूरोप-भर में तहलका मचा दिया। 1787 ई० में इसी लेखक ने हितोपदेश का अनुवाद छपवाया। इन ग्रंथों का बहुत आदर हुआ और नाना यूरोपियन भाषाओं में इन ग्रंथों के अनुवाद हुए। यूरोप में चार-पाँच सौ साल पहले ही प्रसिद्ध विद्वान विदयई की कहानियों का बेहद प्रचार हो चुका था। इसलिए वहाँ की जनता पंचतंत्र की ओर बहुत आकर्षित हुई। 1808 ई० में विलकिन्स का संस्कृत व्याकरण भी छपा। पहला संस्कृत व्याकरण 18वीं सदी के आरम्भ में छपा था। इसके बाद सर विलियम जोन्स ने एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना करके संस्कृत तथा भारतीय ज्ञान के अन्वेषण का कल्पवृक्ष लगा दिया। यह सभी को ज्ञात है कि जब 1789 ई० में विलियम जोन्स का 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' नामक नाटक का अँग्रेजी अनुवाद छपा तो यूरोप के विद्वान्, कवि और लेखक उसके ऊपर लट्टू हो गए। हेर्डर ने पत्रों में इसकी प्रशंसा के पुल बाँध दिए। गेटे ने कहा "शकुंतला आनंद, सरजन-शक्ति, स्वर्ग और संसार का सार है," फिर क्या था? संस्कृत साहित्य की विजय का डंका बजा। भारतीय साहित्य की शोध और उसके अनुवादों की धूम मच गई। हेर्डर जैसे परम विद्वान ने संस्कृत अध्ययन का फल विश्व के लिए अति कल्याणकर और भाषाशास्त्र के क्षेत्र में अति क्रांतिकारी बताया।

इटालियन फिलियो सासेट्टी ने सबसे पहले बताया कि भारतीय भाषाओं के कई शब्द इटालियन से मिलते हैं; किन्तु इससे भाषाशास्त्र कुछ भी आगे न बढ़ पाया। कारण स्पष्ट है—सासेट्टी केवल इटालियन जानता

था। विलियम जोन्स जैसे विद्वानों ने इस ओर नाममात्र ध्यान दिया। भारतीय आर्य भाषा संस्कृत और यूरोपियन भाषाओं की समता तथा एकता देखने का श्रेय जर्मन पंडित फ्रीडरिक फोन श्लेगिल को है। वह ग्रीक, लैटिन आदि का परम पडित था। 1794 ई० मे उसने अपनी प्रथम पुस्तक 'ग्रीक कविता के नाना पथ' पर लिखी। 'शाकुतल' पढ़ कर वह उस पर मुग्ध हो गया। जब सस्कृत की चर्चा बढी तो दो अँग्रेज विद्वान् जिनके नाम विल्फर्ड तथा डगसल स्टेवर्ट थे, बहुत जले और उन्होने भारतीय सभ्यता, संस्कृति और संस्कृत भाषा के विरुद्ध इतना अधिक लिखा कि यूरोप भर के संस्कृत-प्रेमी घबडा गए कि संस्कृत का थोड़ा भी प्रचार न होने पाया कि इसकी जड़ खोदी जा रही है। यह घटना श्लेगल को अति अप्रिय लगी। इसका एक कारण यह भी था कि उसका बडा भाई चार्ल्स औगुस्त श्लेगल ईस्ट इंडिया कपनी की सेना मे भर्ती हो गया था और उसने सस्कृत का उच्च ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ठीक इसी बीच उसकी मृत्यु हो गई। इससे फ्रीडरिक श्लेगल ने संस्कृत और भारतीय सभ्यता का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त करने की ठानी। उस समय यूरोप मे केवल पैरिस विश्वविद्यालय मे संस्कृत-ईरानी आदि भाषाएँ पढाई जाती थी। श्लेगल वहाँ पहुँचा और उसने मो० लाग्लैंस और सेजी से सस्कृत पढ़ी। यह बात फ्रास के लिए बडे गर्व की है कि उस समय अर्थात् अठारहवी सदी मे और उससे पहले भी, फ्रास मे भाषाओ का प्रचार और अध्ययन-अध्यापन था तथा वहाँ संस्कृत, अरबी, फारसी आदि के हस्तलिखित ग्रथ सग्रहीत थे। ज्ञान की वह सच्ची लगन आज भारत मे नाममात्र को भी नही दिखाई दे रही है। श्लेगल ने अपने अध्ययन और अन्वेषणकाल मे देखा कि संस्कृत—ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन यूरोपियन भाषाओं से तो बहुत मिलती ही है; वह स्वयं जर्मन से भी मिलती है। उसे जर्मन शब्द मेंश और संस्कृत शब्द मनुष्य खटके। इसके बाद उसने अन्य शब्दो का मिलान किया। इस खोज के परिणामस्वरूप 1808 ई० मे हाइडलवर्ग से जर्मन भाषा मे संस्कृत और भारतीय प्राचीन सभ्यता पर पहली पुस्तक 'इयबर डी सप्रारवे उण्ट वाइजहाइट डेर इंडियर' निकाली। इसके पहले भाग मे श्लेगल ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि ग्रीक, लैटिन, फारसी, रोमन भाषाओ और जर्मन शब्दों और व्याकरण के रूपों में समानता है। दूसरे भाग मे भारतीय सभ्यता पर प्रकाश डाला। इस ग्रथ ने भारोपा भाषा-शास्त्र की नीव डाली और प्राचीन वैय्याकरणो द्वारा संस्कृत भाषा को और भी सुसंस्कृत बनाने की बुनियाद डाल दी।

बात सौ वर्ष पुरानी है। उस समय जर्मनी मे संस्कृत की खोज की चहल-पहल थी। लास्सन, बेनफ, वेबर आदि संस्कृत साहित्य के महासागर का मंथन कर रहे थे। बोयटलिंक और रोट ने उस संस्कृत वृहत्कोश का निकालना आरम्भ कर रखा था जिसके टक्कर का कोश अभी तक तैयार नही है।

बौप ने संस्कृत जेंद, आर्मेनियन, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनियन, प्राचीन स्लैव, गौथिक और जर्मन का तुलनात्मक व्याकरण प्रकाशित कर सोलह आने प्रमाणित कर दिया था कि भारत से आयरलैंड तक आर्य भाषाओ का बोल-बाला है तथा ये सब भाषाएँ आपस मे बहनें हैं। वे संस्कृत की बहनें है, बेटियाँ नही। यह ध्यान देने योग्य बात है कि आज भी, फारसी, जर्मन, अँग्रेजी आदि भाषाएँ संस्कृत के निकटतर है, हिन्दी संस्कृत से कुछ दूर है। फारसी लोग **बीस्त** कहते है तो वह संस्कृत के **विंदस्ति** का एक रूप है, **अस्प अश्व** और **नाफ नाभि** का फारसी विकार है। इसी प्रकार रामुस सन (Rama's Son) रामस्य सूनुः के बहुत निकट है। बौप साहब का उक्त ग्रंथ का पहला खंड 1832 ई० मे छपा। फिर क्या था? नाना विद्वान् यूरोप की आर्य भाषाओ को छानने लगे कि इनमे आर्यत्व कहाँ-कहाँ छिपा है? इन महापंडितो मे एक का नाम कुर्टिउस था। उसने **ग्रीक भाषाशास्त्र के आधारभूत सिद्धांत** नामक एक पुस्तक 1855-56 मे छपाई। इसमे उसने एक स्थान पर ग्रीक शब्द **हलुस** का उल्लेख किया है और बताया है कि लैटिन मे इसका रूप **साल** और **सालिस** हो जाता है। गौथिक मे नमक के लिए **सौल्ट** शब्द है।

स्कैन्डीनेविया के उत्तरी देशो की प्राचीन भाषा में **लवण** का पर्यायवाची शब्द **साल्त्स** मिलता है। आयरलैंड वाले नमक को **सइल्लिम** कहते थे। आर्मीनियन मे **सल्** या **सर्** का **शब्द** हो गया है। इधर प्रायः पचास साल से पश्चिमी चीन की खोज मे एक भारोपा भाषा तुषारी या तुखारी मिली है। इसके दो भेद हैं : अ और ब। अ तुखारी में लवण को **साले** कहते हैं और ब में **साल्यी**। ये भाषाएँ कुर्टिउस के बहुत बाद निकली; किन्तु यहाँ उनका उल्लेख आवश्यक है। पुरानी स्लाविक मे इसे **साले** कहते हैं। तुखारी को छोड अन्य सब आर्य भाषाओं का विचार कुर्टिउस ने किया। उसने यह भी बताया कि ग्रीक **हलुस** का अर्थ 'बडा तालाब, तीक्ष्ण बुद्धि वाला' है। लैटिन मे **सलिसपोटेन्स** शब्द है जिसका अर्थ 'सर या तालाब का राजा' है। प्राचीन आयरिश भाषा मे **सलत्र** का अर्थ 'सर' है। ग्रीक मे **हालिआंस** का अर्थ 'सर-

संबंधी' है। इन सब पर विचार करके उसने फिर प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओ की ओर ध्यान दिया और कहा कि यद्यपि इस शब्द का कोई रूप उनमे और ईरानी मे नही पाया जाता, तो भी यदि यह कभी प्राचीन आर्य भाषा मे रहा होगा तो वह **सरस्** रहा होगा। यह उसने भाषा-शास्त्र के सब नियमो पर भली-भाँति विचार करके तथा अध्ययन करके लिखा; न कि अनुमान से। *जो हो मुझे धुन लगी कि इस महान् विद्वान ने जो* **सरस्** *शब्द भारतीय आर्य* भाषा का बताया है उसकी शोध की जाए। कई बार मध्यकालीन सस्कृत कोशो को चाट गया। संस्कृत का प्रसिद्ध कोश 'पीटर्सबुर्गर सस्कृत जर्मन कोश', देखा तो उसमे यह अर्थ न पाया। आज 15 साल की बात है। मैं मई, 1950 मे नैनीताल पहुँचा। मेरे मन मे आया कि एक बार फिर संस्कृत कोशो को पढ़ूँ। चार महीने इसी काम मे लगाए। एक दिन देखा कि कुर्टिउस का *भाषाशास्त्र का ज्ञान अगाध है; क्योकि 'अभिधान चितामणि' मे पाया* **लवणं सरः** । इसके बाद एक दिन यह चर्चा भाई श्रीनारायण चतुर्वेदी से छिडी तो उन्होने मोनियर विलियम्स का संस्कृत-अँग्रेजी कोश देखा। उसमे लिखा है कि कोशकारों ने **सर** का अर्थ 'लवण' दिया है। पाठको ने देखा होगा कि **हल स साल** आदि ग्रीक और लैटिन शब्द सस्कृत **सर, सरित** आदि के अर्थ मे भी आते है। इतना ही नही इनका एक अर्थ 'ज्ञान' भी है। *संस्कृत मे 'सरस्—वती' ज्ञान की देवी है। सरस्वती एक नदी का बहुत पुराना* नाम है। प्राचीन फारसी मे इसका नाम **हरकंति** है। ईरानी मे यह रूप कभी **हर** और ***हरों** रहा होगा। **हालुस** नाम की एक नदी ग्रीस मे भी है। लैटिन मे **सल्स** का अर्थ 'नमकीन सूप' है। अस्तु कुर्टिउस ने भाषाशास्त्र के आधार पर जो काम किया उसकी सत्यता वर्षों बाद प्रमाणित हुई। ऐसा ही संस्कृत के कई शब्दो का हाल हुआ।

विधवा की व्युत्पत्ति संस्कृत मे बहुत दिनो से **वि**—(बिना)-**धव** (पति) से दी जाती रही है। जर्मन विद्वानो ने इसकी पूरी शोध की। उन्होने पाया कि **विधवा** शब्द वैदिक है और **धव** केवल नई संस्कृत मे ही मिलता है। इस कारण इस शब्द की व्युत्पत्ति मे कुछ असंगति है। ससार की सब आर्य भाषाओ का पूरा ज्ञान होने से इन विद्वानो को लैटिन मे **विद्-उओ** रूप मिला जिसका अर्थ 'विधवा' है। इसमे विद् धातु है जिसका एक अर्थ 'अलग होना या करना' भी है। इसकी तुलना अँग्रेजी शब्द डिवाइड (di–vide) 'अलग करना' से की जा सकती है। इसके अलावा तुर्रा यह है कि स्वयं ऋग्वेद मे

विध् धातु का अर्थ 'खाली होना, कमी होना, बिछुड़ना' है। इसके अलावा जब विधवा मे धव का अर्थ 'पति' होता है तो विधुर मे धुर का अर्थ 'पत्नी' मानना पड़ता है; पर ऐसा नही है। इसलिए इस शब्द की निरुक्ति सं० विध् धातु से ही ठीक बैठती है।

ऋग्वेद में वचसीपस्पृधाते कहा गया है। इसका प्रयोजन यह था कि वैदिक ऋषि एक-एक शब्द के अर्थ-निर्णय में निरुक्त का सहारा लेते थे। ब्राह्मणों और प्रतिशाख्यो मे मेरे इस कथन के बहुत प्रमाण भरे पड़े हैं। प्राचीन भारतीय आर्य नेति-नेति कहते थे, इससे स्पष्ट है कि किसी शास्त्र या विज्ञान की इति नही होती।

भाषा में अपरिवर्तनशील परिवर्तन का अटल नियम है, किन्तु नाना कारणों से हममे ऐसी संकीर्णता आ गई कि हमने अपने प्रतिभाशाली पूर्वजों के ज्ञान की इति कर दी। यास्काचार्य और पाणिनि के बाद अष्टाध्यायी पर भाष्य और महाभाष्य लिखे गये। संस्कृत मे जो थोडे प्राकृत के शब्द लिए गए थे उनका नाममात्र का समाधान भी किया गया; किंतु व्युत्पत्ति और व्याकरण के क्षेत्र मे कुछ भी आलोचना-प्रत्यालोचना नही की गई। स्वयं बौद्ध और जैन वैय्याकरणो ने जो व्याकरण रचे उन पर पाणिनि की अमिट छाप है। देवानां प्रिय का अर्थ पाणिनी ने अपने पक्के बलबूते पर "मूर्ख" बताया। इसके अर्थ के विषय मे ही उन्होने अल्प मतभेद दिखाया; किन्तु ऐसी समस्याएँ बिना किसी समाधान के हा छोड दी गई। हिन्दी के विद्वान् संस्कृत के अधूरे ज्ञान की ध्वजा फहराकर कोशो मे आराम शब्द की व्युत्पत्ति देने लगे कि यह शब्द फारसी है। अपने घर मे क्या-क्या पडा है इसकी सुधि न रही। आ-राम रम् धातु का रूप है और संस्कृत तथा पाली में इस अर्थ में आया है। यह बात हमे यूरोपियनो ने समझाई। आसमान शब्द भी अपने कोशों में फ़ारसी से आया है; किंतु यह व्युत्पत्ति इसलिए अधूरी रह जाती है कि आकाश पत्थर का बना है और उसमें तारे नगों के समान जड़ दिए गए हैं। ऋग्वेद में यह विचार बहुत ही ललित और स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया गया है। इसमे आसमान के लिए अश्मानं चित् 'स्वयं वर्तमान', 'स्वयंदश्मप्रधिया' आदि आसमान के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इनमें पाठक देखेंगे कि इस पृथ्वी का और अश्मन का भी वेद मे उल्लेख हुआ है। यह स्वयं अश्मन् 'चमकने वाला स्वर्ग या नग जड़ा आसमान' है।

प्रायः सौ वर्ष पूर्व रोट ने एक स्थान पर कुछ इस प्रकार लिखा था : हम यूरोपियों ने सायणाचार्य के भाष्य की सहायता से वेद का अर्थ लगाना सीखा। उसी की कृपा से संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन का कार्य यूरोप मे आगे बढा, पर इस समय जर्मनी ने इस ज्ञान को जिस पूर्णता की ओर पहुँचाया है उसको देख कर यही कहना पड़ता है कि सायण स्वयं संस्कृत के ज्ञान मे बच्चा रह गया था। इसी कारण उसने एक शब्द के कई असंगत अर्थ किए है। यदि उसे अन्य आर्य भाषाएँ जैसे ईरानी, ग्रीक, लैटिन, लिथुआनियन आदि का ज्ञान होता तो वह वैदिक और सस्कृत शब्दों के ठीक-ठीक अर्थ करने मे अवश्य ही सफल होता। इसका अर्थ यह है कि स्वयं संस्कृत या हिंदी शब्दो के अर्थ की स्पष्टता और व्युत्पत्ति के लिए ससार की अन्य आर्य-भाषाओ की आवश्यकता है। कुछ शब्द लीजिए–**भुवन** 'जगत' और **भवन** 'मकान' शब्द भू धातु से बने हैं, किन्तु **भू सत्तायाम्** से इनकी व्युत्पत्ति नही है; क्योंकि 'होने मे' **भवन** और **भुवन** का कोई सबध नही है। इस धातु मे इन शब्दो के संबंध का कोई पता नही चलता। इसकी व्युत्पत्ति तो भारोपा भाषा के **भू** धातु '**बसना, मकान बनाना**' से है। इससे संस्कृत के **भ-वन** और **भु-वन** का अर्थ खुलता है। यह धातु **ब्यु** रूप से प्राचीन आइसलैंड तथा स्केन्डीनेवी भाषाओं मे वर्तमान है और **बौ–अन** रूप से जर्मनी मे। जर्मन **बौ** का अर्थ 'मकान' है। किसी इमारत को जर्मन मे गे–बौ–डे (Ge-bau-de) कहते है। इसमे गे–उपसर्ग है, **बौ बौअन** या **भू** का विकार और **डे** संस्कृत के **वत** का विकार है। गे उपसर्ग संस्कृत मे नही मिलता; पर **भू** धातु का उक्त अर्थ यूरोपियन आर्य भाषाओं मे मिलता है। बिना उक्त भाषाओ की सहायता लिए स्वयं हिन्दी में **भुवन** और **भवन** शब्दों की व्युत्पत्ति अंधेरे मे रह जाती है। अब एक और शब्द लीजिए **देवो वर्षति** सस्कृत मे मिलता है और **बरसत देव** प्राचीन हिन्दी मे। इसका अर्थ है 'बादल या आकाश बरसता है'; किन्तु इसकी व्युत्पत्ति का पता नही लगता। आर्य-जगत मे इस शब्द की रक्षा केवल लियुआनियन में की गई है। वहाँ **देवे-सिस्** का अर्थ 'बादल' है। **देव** सस्कृत में **इन्द्रदेव** नही मेघ रहा होगा। लियुआनियन भाषा आज भी संस्कृतमय है। भाषाशास्त्र के पंडितों का कहना है कि इसमे वे पुराने रूप हैं जो संस्कृत भाषा मे भी कम रह गए हैं। हमे यही पता नही है कि हिन्दी के बहुत से शब्द ईरानी भाषा से आए हैं।

हमारा यह महान दुर्भाग्य है कि हमे न तो भारत से बाहर की आर्य-

भाषाओं का पता है और न भारत की ही। मुझे संस्कृत और हिन्दी के बड़े पंडित मिले हैं जो इस दिशा में काम करना अपने बहुमूल्य समय को नष्ट करना समझते हैं। इतना ही क्यों प्राय. दस बारह साल पुरानी बात है प्रयाग की 'सम्मेलन पत्रिका' में श्री भोलानाथ तिवारी का एक लेख 'हिन्दी शब्द सागर में व्युत्पत्ति की अशुद्धता' पर छपा। उसमें विद्वान लेखक ने कई अशुद्धियों की ओर ध्यान खींचा था। इसमें जनवास की व्युत्पत्ति की कुछ आलोचना थी। उन्होंने इस विषय पर श्री वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन उद्धृत किया था। श्री अग्रवाल जी का कहना है कि जनवास प्राकृत जण्णवास से आया है। डा० वासुदेव का कहना है कि प्राचीन भारत में विवाह एक प्रकार का यज्ञ माना जाता था। प्राकृत में यज्ञ का जण्ण रूप है, इसलिए इस यज्ञ अर्थात् जण्ण में जो भाग लेते हैं अर्थात् बराती जहाँ रहते हैं, वह स्थान जनवास है। तिवारी जी का मत था कि यह व्युत्पत्ति ठीक है और शब्द-सागर में दी जानी चाहिए थी पर इस व्युत्पत्ति में त्रुटि इतनी ही है कि विद्वान लेखक की दृष्टि में वैदिक जन्य शब्द नहीं पड़ा जिसका अर्थ 'बराती' है। इस स्थिति में जन्यवास से यह शब्द निकलता है और शब्द-सागर का जन-वास प्रायः शुद्ध है। संस्कृत में जन्य-यात्रा 'बारात' को कहते हैं जिसका हिन्दी में जनेता हो गया है। इस दृष्टि से प्राकृत की सहायता लेकर, व्युत्पत्ति बनाना विशेष लाभदायक नहीं हो सकता।

हिंदी शब्दों की व्युत्पत्ति की ओर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है। हिंदी राष्ट्र-भाषा है उसे सब प्रकार से भरी-पूरी बनाना हमारा काम है। हिंदी में एक शुद्ध व्युत्पत्ति कोश भी होना चाहिए। जो कमी अभी तक वर्तमान है देखें यह कमी कब पूरी होती है।

हिंदी शब्दों की
व्युत्पत्ति-समस्या

अनंत पारं किल शब्दशास्त्रं (पंचतंत्र)

प्राय डेढ़ सौ साल पहले जौनसन साहब ने अंग्रेजी के एक वृहत-कोश का आयोजन किया। इंग्लैंड के विद्वानों और जनता ने विद्वान जौनसन द्वारा संपादित इस नए कोश का स्वागत करने की बडी धूम-धाम से तैयारियाँ की। कोश छपा और इसका तथा उसके संपादक जौनसन साहब का नाम यूरोप भर मे शिक्षित लोगो की जबान पर सदा के लिए जम गया। जौनसन साहब ने अपने कोश में बताया कि girl 'लडकी' की व्युत्पत्ति garrulous 'बक्-झक्' करने वाली से है। जौनसन साहब के समय व्युत्पत्ति का आधार कल्पना थी। इस विषय पर यूरोप भर मे घोर अन्धकार छाया हुआ था। 1794 मे सर विलियम जोन्स साहब ने अपने एक भाषण मे कलकत्ते मे कहा कि सस्कृत भाषा ग्रीक से अधिक सुसस्कृत और लैटिन भाषा से अधिक शब्द-संपत्तिशाली है। इस वाक्य ने भारत मे तो कुछ हलचल न मचाई, किन्तु यूरोप में इस एक बात ने तहलका मचा दिया। सब पत्रों ने यह चर्चा छेड़ी। लंदन और पेरिस के विश्वविद्यालयो मे संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन प्रारंभ हो गया। इससे पहले पादरी हरवास साहब ने सैंकड़ो भाषाओ की छान-बीन की थी और यह बताया था कि सस्कृत और ग्रीक भाषाओ के अनेक शब्द साम्य रखते हैं और इन दोनो भाषाओं के व्याकरणो के रूपो मे भी साम्य है। उन्होंने लिखा था कि संस्कृत मे अस्ति का रूप ग्रीक में एस्ति है अस्मि का एस्मि। इस प्रकार के कुछ शब्दो और रूपो मे उन्होंने समानता दिखाई थी, किन्तु सर विलियम के वाक्य ने यूरोप के असंख्य ज्ञान-पिपासुओं को भारत की देववाणी सीखने की ओर झुकाया।

श्लेगल को संस्कृत पढ़ने की तीव्र इच्छा हुई। संस्कृत के अध्ययन काल में जब उसे पता चला कि जर्मन शब्द Mensch (मेंस) संस्कृत शब्द मनुष्य से संबंध रखता है तो वह नाच उठा। उसे अनुभव हुआ कि मैं आर्य हूँ और मेरी भाषा मेरे आर्यत्व को प्रमाणित करती है। धन्य है वे जर्मन, जिनके विषय में हम भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द के शब्दो मे कह सकते हैं 'कृस्तान इन हरि जनन पैं, कोटिन हिन्दू वारि।' दुर्भाग्य से श्लेगल साहब की अकाल मृत्यु हो गई। तब, भाषा विज्ञान के बाप या जनक, बौप साहब ने 1816 ई० मे पेरिस विश्वविद्यालय को अपना डाक्टरेट का निबंध अर्पण किया। इसका विषय था 'संस्कृत, जेंद, आरमेनियम, ग्रीक, लेटिन, लिथुआनियन, प्राचीन स्लैविक, गौथिक और जर्मन भाषाओ का तुलनात्मक व्याकरण।' इस निबन्ध का उन्होंने विस्तार किया और बाद को यह ग्रंथ रूप मे तीन खंडो मे छपा। इस महान पुस्तक ने भाषा विज्ञान को जन्म दिया, क्योंकि इसमे आर्य भाषा परिवार के नाना शब्दो और रूपो की तुलना की गई है। बौप साहब के कुछ सिद्धान्तों का खडन होने पर भी यह ग्रंथ अभी तक कई बातो में आधारभूत है। कुछ जर्मन विद्वान हमारे ऋषि, मुनियों की तरह, संस्कृत की धूनी रमा कर इसके अध्ययन मे दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति करने लगे। उनका गंभीर अध्ययन करके संस्कृत का मूल प्राप्त कर लेना संसार मे एक महान आश्चर्य है। एक उदाहरण लीजिए कि विश्वविद्यालय के संस्कृत के अध्यापक महापंडित कुर्टिस साहब ने अपने एक ग्रथ मे ग्रीक शब्द हलुम 'लवण, विद्या' शब्द की सब आर्य भाषाओं में तुलना करते हुए लिखा है कि इस शब्द का प्रतिरूप संस्कृत मे नही मिलता। यदि यह प्रतिरूप संस्कृत मे कभी रहा होगा तो वह सरस ही हो सकता है। अब तमाशा देखिये कि हेमचन्द्र सूरि के संस्कृत कोश अभिधान चिंतामणि में है लवणम् सरः अर्थात् लवण को सरस भी कहते हैं। यह देखकर मोनियर विलियम्स ने अपने कोश मे सरस का एक अर्थ लवण भी दिया है। सौ वर्ष पूर्व न अभिधान चिंतामणि ही छपी थी और न शब्द-कल्पद्रुम या अतिरिक्त कोई अन्य कोश। देखिए इस जर्मन महा-पंडित को कि इसने सौ वर्ष पहले इस संस्कृत शब्द का रूप निर्धारित कर दिया था। इसी प्रकार बेनफे, ब्रुगमान आदि जर्मनों ने संस्कृत शब्दों की जड़ खोद डाली और उनके टुकड़े-टुकड़े करके उनका मूल अर्थ भी संसार के सामने रख दिया।

तब अंग्रेजी मे एक व्युत्पत्ति कोश निकला जिसके दूसरे संस्करण की

भूमिका में लिखा हुआ है मेरे पहले संस्करण के छपने के बाद इंडो-जर्मन तुलनात्मक भाषा विज्ञान के अध्ययन में बहुमूल्य और बड़े महत्व के आविष्कार किए गए हैं। जर्मनी के अनेक विद्वानों ने उक्त शास्त्र को चोटी पर पहुँचा दिया है। ध्वनिपरिवर्तन के सिद्धान्त के ढंग में अति सूक्ष्म और ठीक-ठीक जाँच करने वाले नियम निकाले गए हैं और कई बातों में बड़ी महत्वपूर्ण उन्नति की गई है। इस बीच क्लूगे का जर्मन व्युत्पत्ति-कोश फैंक का डच भाषा का व्युत्पत्ति कोश, लौडरका का जैव-व्युत्पत्ति-कोश, हल्मफेल्ड और हार्लस्टेटर का अर्वाचीन-स्वैड कोश और ब्रुग्मान साहब के इंडो-जर्मन भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण के पाँच खंडों ने व्युत्पत्ति शास्त्र का रूप ही नव्यतम कर दिया। इस कारण मैंने अपने अंग्रेज़ी-व्युत्पत्ति कोश को जिसने भी घोर परिश्रम से क्यों न तैयार किया हो उसमें भी संशोधन करने की अत्यंत आवश्यकता हो गई है। मैंने जो व्युत्पत्ति दी है उसकी मुझे बड़ी शंका है कि वह समय के साथ उचित रूप से आगे नहीं बढ़ सकी है। इस कारण अपने संक्षिप्त अंग्रेज़ी-व्युत्पत्ति कोश को आदि से अंत तक नए सिरे से लिख डाला है।' यह बात स्कीट साहब ने 'A Concise Etymological Dictionary of the English Language' में जो 1901 ई० में छपी थी, की भूमिका में छापी है। भारतवर्ष में हमें इन महत्वपूर्ण आविष्कारों का आज तक भी पता नहीं है। बम्बई के कुलकरणीय महोदय ने मराठी साहित्य सम्मेलन के स्व० जैकर साहब की सहायता से मराठी व्युत्पत्ति-कोश छपवाया है। अन्य भाषाओं में व्युत्पत्ति कोश कम हैं। हिन्दी में तो इसका पूर्ण अभाव ही है। मेरा विचार एक व्युत्पत्ति-कोश प्रकाशित करने का था लेकिन अर्थाभाव की अड़चन ने मेरे इस कार्य को रोक रखा है।

व्युत्पत्ति का एक और चमत्कार देखिए कि क्लूगे साहब ने अपने जर्मन-व्युत्पत्ति-कोश में ध्वनि-तत्व का भली-भाँति विचार करके यह लिखा है कि जर्मन शब्द Fuchs (पुग्ज) जो अंग्रेज़ी में Fox हो गया है उसका मूलरूप हमारा पुच्छ था। लोमड़ी की पूँछ के बाल बड़े मुलायम और अधिक होते हैं। इस कारण स्वयं हिन्दी में उसका नाम लोम-ड़ी 'मुलायम बाल वाली' पड़ा। क्लूगे साहब ने देखा कि इस पूँछ के कारण ही आर्यभाषा में लोमड़ी नाम पड़ा। यह पुच्छ शब्द, वैब्स्टर के अंग्रेज़ी कोश में लोमड़ी (Fox) की व्युत्पत्ति के रूप में दिया गया है। महापंडित क्लूगे ने सब आर्यभाषाओं के नामों की तुलना करके और इन नामों के ध्वनि तत्व का विचार कर इस व्युत्पत्ति को

ढूंढ निकाला। व्युत्पत्ति को ढूंढ निकालना बड़ी कठिनता और नाना भाषाओ मे पाण्डित्य प्राप्त करके उनकी तुलना से उचित मूल रूप को देखना है। देखिए यास्काचार्य ने अपने निरुक्त में बिल शब्द को भिद् धातु तक ढूंढ निकाला है। वराह शब्द को हम कभी न समझते, यदि यास्काचार्य यह न बताते कि यह शब्द कभी वराहार था व्युत्पत्ति का अर्थ, शब्द का वह मूल रूप बताना है जो विकृत शब्दो का मूल स्पष्ट कर दे। स्पष्ट शब्द मे स्पश् धातु का रूप दिखाई देता है और स्पश् का अर्थ 'देखना' है। अब इस अर्थ का तमाशा देखिये कि यूरोप में इसका रूप Spec (स्पेक्) हो गया है। भाषा विज्ञान के विद्यार्थी जानते ही हैं कि आर्य-भाषा परिवार मे यूरोप की प्राचीन भाषाओं मे जहाँ क प्रयोग होता था वहाँ भारत की आर्य भाषाओं में श ष, स का व्यवहार किया जाता था। इस कारण यूरोप की भाषाओं को केंटुम-भाषा कहा जाता है और भारत की आर्य भाषा को सतम् भाषा। यह स्पेक् धातु Inspector (इंसपेक्टर) शब्द में वर्तमान है। जिसका अर्थ है 'भीतर जाँचने वाला।' अंग्रेजी respect शब्द में अर्थ है re 'पीछे', spect 'देखना' अर्थात् आदर करना, जब हम किसी को आदर की दृष्टि से देखते हैं तो उसके हमारे सामने से चले जाने पर उसे फिर सम्मान की दृष्टि से हम पीछे से देखते हैं। इस कारण respect का अर्थ 'आदर' पड़ा। इस spec धातु के यूरोपियन भाषाओ में बीसियो शब्द हैं। भारत में यह धातु वेदों में ही है। संस्कृत काल मे इसका एक रूप स्पष्ट रह गया और यह धातु पश्यति में विकृत रूप में देखा जाता है।

यह सब इसलिए लिखा गया है कि हिन्दी मे व्युत्पत्ति नाममात्र को ही है। स्वयं भाषा वैज्ञानिक इस विषय पर भद्दी भूलें करते हैं। जब तक कई आर्य-भाषाओं का ज्ञान न हो, इस विषय पर कुछ बोलना या लिखना घातक सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ एक विद्वान ने मौसा और मौसी शब्द को मा-सा, मा-सी शब्दों से निकाला है और अपने पाठकों को बताया है कि मौसा-मौसी ठेठ हिन्दी के अपने शब्द हैं। अब देखिए कि प्राकृत में माउसी, माउसिआ आदि चार पांच शब्द मौसी के लिए वर्तमान हैं। प्राकृत मे कहा जाता है कि माउसिया आदि मातृष्वसा शब्द से निकले हैं। जिस प्रकार भ्रातृ का मराठी रूप भाऊ निकला है अथवा पुत से पोथ (कुमाऊनी च्यू) निकला है उसी प्रकार मातृ का एक प्राकृत रूप माउ भी है। संस्कृत

भूमिका मे लिखा हुआ है 'मेरे पहले संस्करण के छपने के बाद इंडो-जर्मन तुलनात्मक भाषा विज्ञान के अध्ययन मे बहुसख्यक और बड़े महत्व के आविष्कार किए गए हैं। जर्मनी के अनेक विद्वानों ने उक्त शास्त्र को चोटी पर पहुँचा दिया है। ध्वनि-परिवर्तन के विश्लेषण के ढंग मे अति सूक्ष्म और ठीक-ठीक जाँच करने वाले नियम निकाले गए हैं और कई बातो,मे बड़ी महत्वपूर्ण उन्नति की गई है। इस बीच क्लूगे का जर्मन व्युत्पत्ति-कोश फ्रैंक वा'डच भाषा का व्युत्पत्ति कोश, गोडफवा का फ्रेंच-व्युत्पत्ति-कोश, हत्सफेल्ड और दार्मस्टेटर का अर्वाचीन-फ्रेंच कोश और ब्रुगमान साहब के इंडो-जर्मन भाषाओ के तुलनात्मक व्याकरण के छह खडो ने व्युत्पत्ति शास्त्र का रूप ही नव्यतम कर दिया। इस कारण मैंने अपने अँग्रेजी-व्युत्पत्ति कोश को जितने भी घोर परिश्रम से क्यो न तैयार किया हो उसमे भी संशोधन करने की अत्यंत आवश्यकता हो गई है। मैंने जो व्युत्पत्ति दी है उसकी मुझे बड़ी शका है कि वह समय के साथ उचित रूप से आगे नही बढ सकी है'। इस कारण अपने संक्षिप्त अँग्रेजी-व्युत्पत्ति कोश को आदि से अत तक नए सिरे से लिख डाला है।' यह बात स्कीट साहब ने 'A Concise Etymological Dictionary of the English Language मे जो 1901 ई० मे छपी थी, की भूमिका मे छापी है। भारतवर्ष मे हमे इन महत्वपूर्ण आविष्कारो का आज तक भी पता नही है। बम्बई के कुलकरणीय महोदय ने मराठी साहित्य सम्मेलन के स्व० जैकर साहब की सहायता से मराठी व्युत्पत्ति-कोश छपवाया है। अन्य भाषाओ मे व्युत्पत्ति कोश कम हैं। हिन्दी मे तो इसका पूर्ण अभाव ही है। मेरा विचार एक व्युत्पत्ति-कोश प्रकाशित करने का था लेकिन अर्थाभाव की अड़चन ने मेरे इस कार्य को रोक रखा है।

व्युत्पत्ति का एक और चमत्कार देखिए कि क्लूगे साहब ने अपने जर्मन-व्युत्पत्ति-कोश मे ध्वनि-तत्व का भली-भाँति विचार करके यह लिखा है कि जर्मन शब्द Fuchs (फुखज) जो अँग्रेजी मे Fox हो गया है उसका मूलरूप हमारा पुच्छ था। लोमड़ी की पूँछ के बाल बड़े मुलायम और अधिक होते हैं। इस कारण स्वयं हिन्दी मे उसका नाम लोम-ड़ी 'मुलायम बाल वाली' पड़ा। क्लूगे साहब ने देखा कि इस पूँछ के कारण ही आर्यभाषा मे लोमड़ी नाम पड़ा। यह पुच्छ शब्द, वैबस्टर के अँग्रेजी कोश मे लोमड़ी (Fox) की व्युत्पत्ति के रूप मे दिया गया है। महापंडित क्लूगे ने सब आर्यभाषाओ के नामों की तुलना करके और इन नामों के ध्वनि तत्व का विचार कर इस व्युत्पत्ति को

ढूंढ निकाला। व्युत्पत्ति को ढूंढ निकालना बडी कठिनता और नाना भाषाओ में पाण्डित्य प्राप्त करके उनकी तुलना से उचित मूल रूप को देखना है। देखिए यास्काचार्य ने अपने निरुक्त मे बिल शब्द को भिद् धातु तक ढूंढ निकाला है। वराह शब्द को हम कभी न समझते, यदि यास्काचार्य यह न बताते कि यह शब्द कभी वराहार था व्युत्पत्ति का अर्थ, शब्द का वह मूल रूप बताना है जो विकृत शब्दो का मूल स्पष्ट कर दे। स्पष्ट शब्द में स्पश् धातु का रूप दिखाई देता है और स्पश् का अर्थ 'देखना' है। अब इस अर्थ का तमाशा देखिये कि यूरोप में इसका रूप Spec (स्पेक्) हो गया है। भाषा विज्ञान के विद्यार्थी जानते ही हैं कि आर्य-भाषा परिवार में यूरोप की प्राचीन भाषाओं में जहाँ क प्रयोग होता था वहाँ भारत की आर्य भाषाओं मे श ष, स का व्यवहार किया जाता था। इस कारण यूरोप की भाषाओं को केंटुम-भाषा कहा जाता है और भारत की आर्य भाषा को सतम् भाषा। यह स्पेक् धातु Inspector (इंसपेक्टर) शब्द मे वर्तमान है। जिसका अर्थ है 'भीतर जांचने वाला।' अँग्रेजी respect शब्द में अर्थ है re 'पीछे', spect 'देखना' अर्थात् आदर करना, जब हम किसी को आदर की दृष्टि से देखते हैं तो उसके हमारे सामने से चले जाने पर उसे फिर सम्मान की दृष्टि मे हम पीछे से देखते हैं। इस कारण respect का अर्थ 'आदर' पड़ा। इस spec धातु के यूरोपियन भाषाओ मे बीसियों शब्द हैं। भारत में यह धातु वेदो मे ही है। संस्कृत काल मे इसका एक रूप स्पष्ट रह गया और यह धातु पश्यति मे विकृत रूप मे देखा जाता है।

यह सब इसलिए लिखा गया है कि हिन्दी में व्युत्पत्ति नाममात्र की ही है। स्वयं भाषा वैज्ञानिक इस विषय पर भद्दी भूलें करते हैं। जब तक कई आर्य-भाषाओ का ज्ञान न हो, इस विषय पर कुछ बोलना या लिखना घातक सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ एक विद्वान ने मौसा और मौसी शब्द को मा-सा, मा-सी शब्दो से निकाला है और अपने पाठकों को बताया है कि मौसा-मौसी ठेठ हिन्दी के अपने शब्द हैं। अब देखिए कि प्राकृत मे माउसी, मा-उसिया आदि चार पांच शब्द मौसी के लिए वर्तमान हैं। प्राकृत मे कहा जाता है कि माउसिया आदि मातृस्वसा शब्द से निकले हैं। जिस प्रकार भ्रातृ का मराठी रूप भाऊ निकला है अथवा घृत से घीउ (कुमाऊनी घ्यू) निकला है उसी प्रकार मातृ का एक प्राकृत रूप माउ भी है। संस्कृत

मातृष्वसा का प्राकृत मे माउस्सिया आदि रूप बन गए हैं। हिन्दी के इस विद्वान को हिन्दी की परम्परा का ज्ञान होने से मौसी हिन्दी का अपना शब्द सूझा। क्या कभी वर्तमान काल के शब्दों से भूतकाल के शब्द निकल सकते है ? इस प्रकार के भाषा वैज्ञानिक विचार तो भाषा के क्षेत्र मे उल्टी गंगा बहाते हैं, जो संभव नही है। प्रत्येक सुसस्कृत भाषा में सब शब्द या तो परंपरा मे आएँगे या विदेशी होंगे। हिन्दी का अपना शब्द हो नही सकता। हिन्दी की परम्परा तो वैदिक, संस्कृत, अर्द्ध-मागधी, पाली, नाना प्रकार की प्राकृतें, अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दी है। अब कुछ विद्वान बताने लगे है कि भारत मे वैदिक भाषा मे पहले ओस्ट्रो-इंडिक मुंडा आदि अनेक अति-प्राचीन भाषाओ के शब्द भी वैदिक और सस्कृत भाषाओं मे आ गए थे। उदाहरणार्थ नीर और जल संस्कृत भाषा मे द्रविणो के सम्पर्क मे आये है। झगड़ा मुंडा शब्द हैं, आदि आदि। प्राकृतीकरण, वैदिक काल मे ही आरम्भ हो गया था। ऋग्वेद मे प्रकृत 'आगे किया हुआ' का प्राकृत रूप प्रकट हो गया। विकृत का 'विकट' और सभवतः निकृत का 'निकट', इस 'नि-कृत' का अर्थ 'निकट किया हुआ' रहा होगा। आर्य भाषा के समय से प्राकृतीकरण की प्रथा निरन्तर जारी है। इस कारण व्युत्पत्ति लिखने मे बहुत सोच-विचार कर काम करना पडता है। जिस पुस्तक का मैंने उल्लेख किया है, वह नागरी प्रचारिणी सभा मे छपी है। भाषा विज्ञान की एक पुस्तक मे लिखा गया है कि जनता ने सवार शब्द के प्रारम्भ मे मुख सुख के लिए अ जोड़ दिया है, इस कारण सवार शब्द असवार बन गया है। यह तथ्य भ्रम मूलक है। भाषा विज्ञान की इस पुस्तक मे बीसियों ऐसी अशुद्ध बातें है। खेद इस विषय का है कि इससे विद्यार्थी क्या सीखेंगे ? सत्य तो यह है कि असवार शुद्ध है, क्योंकि असवार का मूल रूप फारसी मे अस्पवर और प्राय 1200 साल पहले लिखे हुए सस्कृत कोशो में अश्ववार शब्द भी सवार के अर्थ मे आया है। प्राचीन हिन्दी में यह शब्द असवार था और नई हिन्दी मे अब यह सवार बन गया है और इसका अ लुप्त हो गया है। सवार को शुद्ध और असवार को अशुद्ध बताना पाठको के मन मे एक बडी भूल भर देना है।

जून १९६४ की 'भाषा' मे मित्रवर सूर्य नारायण व्यास का 'कुछ शब्द' नामक एक लेख छपा है। व्यास जी ज्योतिष और सस्कृत के महान विद्वान है। कालीदास के विषय मे उन्होने जो कुछ किया है उससे उनके प्रति मेरी

महान श्रद्धा है। उन्हें अपने से अधिक विद्वान मानने पर भी मैं उनके उस लेख के विषय में कुछ सत्य बातें कहना अपना कर्तव्य समझ रहा हूँ। संस्कृत में कहा है—'शत्रोरपि गुणा वाच्या, दोषा वाच्या गुरोरपि।' अर्थात् 'शत्रु के भी गुण गाने चाहिए और गुरु के दोष भी बता देने चाहिए।' व्यास जी ने परिषद् शब्द के बारे में जो कुछ लिखा है उस पर उनका पूरा अधिकार है किन्तु शाह शब्द के विषय में उनके विचार भ्रम का प्रचार करेंगे। इसमें कोई संदेह नहीं। संस्कृत में शाह शब्द का प्रयोग कलहण ने राजतरंगिणी में या है *अन्यत्र यह शब्द देखने में नहीं आता।* उन्होंने वेद से राजाधिराजाय त्रहय 'साहिने' उद्धृत किया है। इस पद में प्रसह्य और साहिने शब्द ह् धातु से निकले हैं। वेद में सह् का अर्थ 'दूसरों को दबाना, जीतना है।' ौर यह किसी प्रकार शाह शब्द के लिए काम में नहीं आ सकता। अब सरा पहलू लीजिए–नियम यह देखा गया है कि वैदिक और संस्कृत स अवेस्ता में ह हो जाता है–जैसे सप्त का हप्त, सप्ताह का हफ्ता, सम का हम, सर्व का हर, सहस्र का हजंग्र आदि और हमारा ह अक्षर अवेस्ता में ज में परिणत हो जाता है जैसे बाहु का बाजू, हन का जन्, बृंह का बुर्ज आदि। सहस्र में भी पाठकों ने देखा होगा ह का ज् हो गया है। स का कभी ख भी होता है, जैसे स्वधा का खुदा और स्वाप का ख्वाब। इस कारण ईरानी भाषाओं में वैदिक शाह शब्द का रूप कोई बनता तो वह हाज होता। ईरानी भाषा वैदिक काल से ही अपना उक्त रूप प्रदर्शित करती है। वैसे पारसी और हिन्दू एक ही संस्कृति को मानते थे। पारसी गाय को पूजते हैं, उनके वहां नवजोत के समय वटु को जनेऊ पहनाई जाती है। जनेऊ को वे कस्ती कहते हैं। कस्ती के साथ नारा भी पहनाया जाता है। उनके देवता भी मित्र नाहैत्या 'नासत्या' आदि हमारे ही देवता हैं। जरथुष्ट्र के समय से पारसियों और प्राग् भारतीय-भारतीयों में तीव्र मतभेद हो गया था। पारसी यम को भी मानते हैं और यम के लिए अवेस्ता में यिमक्षायय, यमराज शब्द आए हैं। इस यमक्षायय का एक रूप पारसी नाम जमशेद में आया है इसका दूसरा रूप शाह है। ईरानी में बादशाह को पादिशाह भी कहते हैं। डेरियस राजा के समय बादशाह को पाति-खशाह कहते थे। इस शब्द में क्षायय का य उड़ गया है। पहलवी भाषा में इसका रूप पात-खशाह हो गया था। यह खशाह फारसी में शाह बन गया। इसलिए व्युत्पत्ति के विषय में यह भी आवश्यक है कि हम यह जानें कि हमारे शब्द अन्य आर्य भाषाओं में अक्षरों

के किस परिवर्तन के साथ जाते और आते हैं। वैसे, फारसी तो आर्य भाषा है और भारतीय आर्य भाषाओं की बहिन है। देखिए हमारा नर शब्द ग्रीक में **अनेर** रूप मे है और ईरानी भाषाओ में वह सदा **नर** ही रहा। माता को फारमी मे **मादर** रूप दिया गया है, शौरसेनी प्राकृत मे भी **माँ** को **मादा** ही कहते हैं, मेह और माह फारसी शब्द हैं, प्राकृत मे **मेघ** का **मेह** हो जाता और **मास** का **माह**। **मेह बरसता है** मे उर्दू मे मेह का अर्थ पानी हो गया है। *यह प्रयोग वैसा ही है जैसा कि ब्रज भाषा की कविताओं मे कहीं कहीं मिलता है।* **बरसत देव** अर्थात् 'इन्द्र पानी बरसा रहा है।' एक शेर लीजिए–

पिला मैं आशिकारा हमको, किसकी साकिया चोरी।
खुदा की गर नही चोरी, तो फिर बंदे की क्या चोरी॥

इसमे पाठक देखें कि **मैं** **मद** का फारसी रूप है। प्राकृत मे मद का रूप **मअ, मय** हो जाता है। इनका ही एक रूप मैं भी है। **आशिकारा** का अर्थ है 'प्रकाश मे, सब के सामने' यह शब्द सस्कृत आविष्कार का विकृत रूप है। खुदा की व्युत्पत्ति या आर्य भारतीय रूप पहले दे दिया गया है। **बंदे** का अर्थ है 'पूजक'। यह **बंदे** हमारे **वंदे मातरम्** मे भी है। फारसी दर्द शब्द पहलवी मे **दर्त** और **दर्तक** था। यह हमारे **दृ, दर्** धातु से निकला है। इन सब बातो का सार यह है कि कालकाचार्य कथानक मे जो **शाहानुशाही** शब्द आया है वह ईरान के बादशाह के लिए। कालकाचार्य विक्रम के पिता गर्दभिल्ल का नाश करने के लिये ईरान जाकर वहाँ के शाहो को उज्जैन बुला लाये थे–कथानक के अनुसार ईरान के शाहों ने गर्दभिल्ल को हराया और उसका नाश किया और कालकाचार्य की बहिन सरस्वती उसको वापस दे दी। इसलिये कालकाचार्य का **शाहानुशाही** शब्द ईरानी भाषा का है, किसी भारतीय भाषा का नही। जो हो, व्युत्पत्ति बहुत टेढी खीर है। जो इस क्षेत्र मे पग रखना चाहें उन्हे नाना भाषाओं के अध्ययन मे जर्मन विद्वानो की तरह अपनी जान खपानी पडती है।

यह मुश्किल जबां है, नहीं दाग आसां।
यह आती है हिन्दी जबां, आते-आते॥

(दाग की सधन्यवाद चोरी)

भाषा में परम्परा का महत्व

घटना १९४३ के आरम्भ की है। १९४२ में लेखक ने कलकत्ता छोड़ा और रानीखेत नामक स्थान में प्रेम महाविद्यालय में राष्ट्रीय कार्य करने लगा। १९४२ ई० के आंदोलन की तैयारी की जा रही थी। अगस्त मास आया। देश में राष्ट्रीय आन्दोलन की आग फैल गई। राष्ट्रीय आन्दोलन की खबरें जर्मनी से रेडियो में आने लगी। नैनीताल और अल्मोड़ा की खबरें भी वहा से आने लगी। अंग्रेजो को संदेह हुआ ये खबरें लेखक जर्मनी भेज रहा है। उन्होंने हुक्म निकाला कि डा० जोशी जर्मनी के साथ सम्पर्क रखते हैं, इसलिए भेदियों को २४ घन्टे उनकी देख-रेख करनी चाहिए। हलद्वानी से एक सी० आई० डी० वाला जो लेखक को पहचानता न था, उसके घर के बाहर उसे मिला। उसने लेखक से पूछा कि डा० हेमचन्द्र जोशी कौन है और कहा है ? लेखक हलद्वानी की बाजार को जा रहा था और इस जासूस को अपने साथ कर लिया। बातों मे पता चला कि पुलिस का यह जासूस उसका निकट सम्बन्धी है। लेखक उसे वापस अपने घर ले गया और चाय पिलाई। लेखक के घर वालों को जासूस पहचानता था। उसने कहा—"आप पर संकट आने वाला है। आप फौरन यह स्थान छोड़कर दूर चले जाएं। इससे मेरी भी पत रहेगी और आप की भी।"

लेखक, फौरन दिल्ली चला गया वहाँ से लाहौर होते हुए बम्बई पहुंच गया। वहा कांग्रेस ने लेखक के एक मित्र द्वारा उसे डेरा दिलवाया। जिस मित्र द्वारा यह निवास-स्थान मिला था उसने कहा कि आप अब अपना परिवार ले आइए। आपको ३ कमरे मिल गए। लेखक लखनऊ जाकर परिवार ले आया। मित्र रेलवे स्टेशन पर आ रहे थे और रेल से उतरते ही बोले—"आप वाला फ्लैट बालगोपाल के मन्दिर के ऊपर है आपके पास कुत्ता है इसलिए मकान मालिक को एतराज है।"

बल्लभाचार्य सम्प्रदाय का सबसे बड़ा मन्दिर बम्बई के भूलेश्वर मोहल्ले मे है। वहाँ के स्वर्गवासी महंत श्री गोकुल दास जी के सुपुत्र गोस्वामी दीक्षित जी महाराज मेरे परम मित्र थे। मैंने उन्हे फोन किया और वह तुरन्त मेरे पास स्टेशन आये, बोले, "मैं आपके कुत्ते को अपनी गोदी मे लेकर वहा चढ़ाऊगा।" इस पर मित्र का मुह फक रह गया। मैं उस निवास-स्थान पर न जा सका। महात्मा गाधी मार्ग के एक होटल मे परिवार के साथ ठहरा। इधर मित्र ने पगड़ी लेकर उक्त निवास-स्थान किसी को किराये पर दे दिया था। प्रायः ८ दिन होटल मे पडा रहा। एक रोज देखता क्या हू कि दशरथ लाल काका जी का दामाद प्रात.काल होटल मे आया और बोला-"चलिए काका जी ने मुझे आज्ञा दी है कि मैं आपका सब सामान काका जी के यहा ले चलू। आप वही रहेगे।"

काका मेरे परम मित्र थे। मेरे लेख पढ़ कर वह परम मित्र हो गए थे। उन्हे मेरा होटल मे रहना बुरा लगा और मैं सपरिवार उनके यहा चला गया। दशरथ लाल काका के जीवन का एकमात्र उद्देश्य था, परोपकार और मनुष्य को ऊंचा उठाना। उन्होंने कहा-"जब तक आपको मकान नही मिलता है, यह घर आप का है।"

मेरे पास दो कुत्ते थे, उनके लिए उन्होंने २ सेर दूध ले रखा था। उनकी एक मात्र पुत्री नानीबेन से हमने कहा—"कुत्तो का दूध गरम कर दीजिए और उसमे थोडा मीठा डाल दीजिए।"

वह तुरन्त, १५ मिनट मे दूध गरम करके और उसमें मीठा डालकर हमारे पास ले आई। कुछ ठडा होने पर, दूध तश्तरी मे डालकर कुत्तो के सामने रखा। आश्चर्य और महा आश्चर्य! कुत्तो ने दूध की तश्तरियों से मुंह फेर दिया। नित्य के दूध पीने वाले इन कुत्तों ने तश्तरिया छोड़ दी और हमारे पास आकर बैठ गये। एक बजे दिन के हम सब एक साथ भोजन को बैठे। दाल में नमक कुछ कम था। मैंने कुछ नमक मांगा। हिन्दी जानने वाले काका दशरथ लाल ने रसोइए की ओर देखकर कहा-"मीठू जोइए।"

मैं कुत्तों के दूध का रहस्य ताड गया। मैंने नानी-बैन से पूछा—"बैन, आपने शायद कुत्तो के दूध मे यही मीठू नाखा था।"

उन्होंने उत्तर दिया—हा।'

तब मुझे अचानक स्मरण हो आया कि गुजराती और मराठी मे नमक को मीठू और मीठ कहते है। बैन ने हा भरी और कुत्तों ने भी ठीक ही किया कि नमक वाला दूध न पिया। क्या कारण है कि हमारी मिठाई में चीनी डाली जाती है, जिसे हम मीठा कहते है और गुजराती इसी शब्द का प्रयोग लवण के लिए करते है। पाठक यह भी जानते ही होगे कि हमारे हलवाई एक ओर चीनी मिलाकर मिठाई बनाते हैं दूसरी ओर दालमोट, समोसा, पकोडिया, पूडी, कचौड़ी आदि भी बनाते हैं। यह गूढ बात तभी समझ मे आ सकती है जब हम मीठे की परम्परा समझें।

मीठा शब्द जैन विद्वान हेमचन्द्र सूरि के अनुसार मृष्ट से निकला है, किन्तु यह मिष्ट शब्द से भी बन सकता है। इन दोनो शब्दो का अर्थ चीनी हो या नमक, उसे आटा, मैदा या बेसन के साथ 'मिला' देना था, ये दोनों चीजें खोया, आटा आदि मे मिला दी जाती है जिससे स्वादिष्ट पदार्थ बनते हैं। जिससे मिठाई पसन्द करने वालो ने चीनी का नाम मीठा रख लिया और नमकीन के शौकीनो ने नमक का नाम मीठा रख दिया। मेरे गुरुदेव, हिन्दी के महान सेवक प० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी महोदय ने इस मीठे की चर्चा करते समय मुझे बताया कि उनके गाव मे भी उन्होने बचपन मे नमक का नाम मीठा सुन रखा था। सो इस मीठे शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों का विरोधाभास, इस शब्द की परम्परा जान लेने पर नही रहता। और देखिए—कि सस्कृत मे 'लवण' के लिए दूसरा शब्द नही मिलता। वेदो मे लवण शब्द नही है, इस कारण संस्कृत के पाश्चात्य पंडित समझते है कि क्या वैदिक आर्य लोग नमक खाते ही नही थे ? यह एक बड़ा रहस्य है, जो अभी तक खुल नही सका, हेमचन्द्र सूरि ने अपने सस्कृत कोश अभिधान-चिन्तामणि में एक स्थान पर बताया है—'लवण सर:' अर्थात किसी प्राचीन समय मे लवण को सर. या सरस कहते थे। यह सर. शब्द मैंने हिन्दी कोश की तैयारी मे अकस्मात अभिधान-चिन्तामणि के भीतर देखा। इससे पहले मैंने यह शब्द जर्मन महापडित प्रोफेसर कुर्टिउस के ग्रन्थ ग्रुन्डरिस डेर ग्रीशिशन फिलोलोगी मे देखा था, उन्होंने बताया था कि भारतीय आर्य भाषाओं मे ग्रीक शब्द हलूस 'नमक' लैटिन साल या सालिस, अग्रेजी (साल्ट) जर्मन Salz (जाल्स) पुर्तगाली साल, फ्रेंच Sel (सेल) आदि शब्दो का कोई प्रतिरूप नही प्राप्त

होता, यदि किसी प्राचीन समय मे इसका कोई प्रतिरूप वर्तमान रहा होगा तो वह उक्त शब्दों की ध्वनि की तुलना करने से मालूम होता है कि सरस रहा होगा, अच्छा अब तमाशा देखिए कि ग्रीक हलुस शब्द का दूसरा अर्थ 'ज्ञान' या 'विद्या' है और देखिए तथा आश्चर्य मे पडिये कि भारतीय आर्य शब्द सरस का अर्थ भी 'विद्या या ज्ञान' है। हमारी विद्या की देवी का नाम सरस्वती अर्थात ज्ञान से भरी-पूरी देवी है। ऋग्वेद मे सर्वत्र इस सरस्वती की महान उत्साह से स्तुति की गई है और इस नाम की नदी की भी। क्या इस नदी का जल खारी तो नही था, इस विषय पर भारत मे कभी कोई शोध नही हुई, यह हमारा दुर्भाग्य है। इस प्रकार के तथ्यो की शोध से हम वचित रह गए है।

यास्काचार्य ने अपने निरुक्त मे वैदिक शब्दो के विषय मे जो निःशेष उक्तिया दी हैं, उनमें भी इस विषय पर कुछ नही लिखा है किन्तु गीता आदि ग्रन्थो को देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सरस का प्राचीन वैदिक भारत मे एक अर्थ लवण भी रहा होगा। संस्कृत कोशो मे 'सरसवान उदधिः' अर्थात समुद्र का एक नाम सरसवान यानी खारी पानी वाला भी है। इस स्थान पर दूसरा अर्थ ठीक नही बैठता। अब देखिए, गीता मे बताया गया है 'रसोहमप्सु कौन्तेय' कहा गया है। जिसका अर्थ है, 'हे अर्जुन मैं पानी मे तरलता हूं।' और दूसरे स्थान पर स्पष्ट लिखा गया है कि सरसामस्मि सागरः अर्थात नमक वाले पदार्थों मे (नमक की खान) समुद्र हू। इससे भी पता चलता है गीता के समय तक सरस शब्द जीवित था और लोगो की बोली में चलता था। भगवान की बोली वह भाषा है, जिसे कम बुद्धि वाले और महान पडित दोनों भली भांति समझ लेते होगें। यदि कुटिउस साहब आर्य भाषा के शब्द हलुस, साल आदि शब्दो की शोध न करते तो स्वयं हम भारतीयो को अपने आर्य शब्द सरस का अर्थ स्पष्ट न होता। यह शब्द तो प्रायः मर ही चुका है। केवल १२०० साल पुरानी 'अभिधान-चिन्तामणि मे इसका नाममात्र उल्लेख है।

अब देखिए भगवान के मुख के वाक्य, 'सरसामस्मि सागरः' और सरस्वती के नए अर्थ हमारी आयों के सामने दूसरा ही चित्र खीच देते हैं। यह शब्दो की परम्परा प्राप्त कर उनका ठीक-ठीक अर्थ निकालने का प्रताप है।

कुर्टिउस साहब ने सरम के नाना प्रारूपों का अध्ययन करके और भली भांति यह जान कर कि भिन्न-भिन्न आर्य भाषाओं में ध्वनि-परिवर्तन के कौन से नियम काम करते है, उनका सूक्ष्म अध्ययन करके प्राय: १०० वर्ष पहले बता दिया था कि किसी समय लवण को मरस कहते होंगे जो अभिधान चिन्तामणि मे भी मिलता है तथा इसकी पुष्टि १२०० साल पहले लिखे गए संस्कृत कोश कर रहे है।

वेदो मे रात के लिए नक्त शब्द आया है। इस नक्त के लिए जर्मन मे नख्ट शब्द है। अंग्रेजी मे एंग्लो सैक्सन निद्ध रूप से Night (पुराना उच्चारण निक्त) रूप वर्तमान है स्केन्डेनेवियन भाषाओं में इसके रूप नाट्, नाट्ट मिलते है। लैटिन मे इसका रूप Nox (नौक्स) है। यहा पर एक बात ध्यान देने की है कि भारतीय अक्षर 'अ' यूरोपीय भाषाओ मे 'ये' या 'ओ' रूप ग्रहण कर लेता है। हमारा अस्ति ग्रीक मे एस्ति हो जाता है और लैटिन मे इसका रूप एस्त हो जाता है। इसी प्रकार हमारे नक्त का रूप परिवर्तन लैटिन मे नौक्स हो गया है। ट्यूटौनिक भाषा में इसका रूप nacht और night (नाख्ट तथा निख्ट) था। लियुआनियन भाषा मे इसका रूप नक्तिस है और रूसी मे noche (नौसे)।

उक्त परम्परा को ध्यान मे रखकर यह निष्कर्ष निकलता है कि आदि आर्य लोग जब भारत पहुचे तो रात के प्राय: मूल रूप नक्त को भारत तक ले आये, किन्तु संस्कृत मे इस नक्त का व्यवहार होने पर भी रात्रि, निशा आदि रूप ही अधिक चले। हिन्दी मे तो नक्त देखा ही नही जाता। इस शब्द के प्रतिरूप प्राय: सभी यूरोपीय भाषाओ मे वर्तमान है। भले ही इनमें भाषा विज्ञान के नियमो के अनुसार ध्वनि-परिवर्तन या विकार आ गया हो। इससे हमे पता चला कि नक्त की परम्परा नवीन आर्य भाषाओ मे नही के बराबर है। भले ही इस शब्द का यूरोप भर की भाषाओ मे दौर दौरा हो और उक्त शब्द आदि आर्य परम्परा का है। इसकी परम्परा भारत मे संस्कृत काल से ही मुझाने लग गई थी।

एक भाषा के नाना दैशिक अथवा प्रादेशिक रूप इसी सिद्धान्त पर बनते हैं। एक उदाहरण लीजिए—हिन्दी और बगला मे किसी चीज की इच्छा

करने के लिए चाहना धातु प्रयुक्त होती है। गुजराती में चाहना के स्थान पर जोइए का व्यवहार है। मराठी में चाहना के स्थान पर पाहिजे कहते है। अब इन तीनों के भीतर का रहस्य देखिए कि चाहना में चा धातु है। इस चा से चारू शब्द बना है, जिसका अर्थ है 'दर्शनीय'। हिन्दी वालों ने वैदिक चा को अपनाया, इससे हिन्दी धातु चाहना 'देखना' भी निकला है। जोइए भी हिन्दी में प्रचलित है, किन्तु बहुत कम, यह हिन्दी बाट जोहना में जोह रूप में वर्तमान है, अब पाहिजे का तत्व देखिए, ऋग्वेद में स्पश 'देखना' गुप्त रूप से देखना मिलता है। इस स्पश का यूरोपीय रूप स्पेक् मिलता है। पाठक Inspector (इन्सपेक्टर) शब्द में यह धातु पाएंगे। इन्सपेक्टर शब्द का अर्थ है भीतर देखने वाला अर्थात भली भांति जांच करने वाला। इस धातु का सस्कृत में पश रूप है, जो पश्यति आदि में मिलता है। यह सस्कृत पश मराठी में पाहणे बन गया है, जिसका अर्थ चाहना होता है। बात यह हुई कि हिन्दी, बगला, गुजराती और मराठी बोलने वालो ने सस्कृत या प्राकृत के भिन्न-भिन्न रूपो को अपनाया। इस प्रकार उक्त चार प्रादेशिक-भाषाए बन गई। यही बात नक्त के विषय मे है। यूरोपीय जातियो ने इस शब्द को सपरम्परा अपनाया। इस कारण नवीन आर्य भाषाओ मे यह नही मिलता और यूरोप की नाना आर्य भाषाओ मे यह जीते जागते रूपों मे मिलता है।

ध्वनि-विकार परम्परा के साथ समय-समय पर प्रकट होता है। आप हिन्दी के आज शब्द को लीजिए। सस्कृत व्याकरणकारों का ठीक ही अनुमान है कि जब इस शब्द का मूल रूप बना होगा तो वह अद्यवि रहा होगा, क्योंकि इसमें अ-द्यवि शब्द है। अ बीजाक्षर है, यह अ-त्र, अस्मिन आदि रूपो मे पाया जाता है। इसका अर्थ है 'यह', इस कारण अ-द्यवि का अर्थ हुआ 'इस दिन मे।' लैटिन मे अद्य का रूप है Hodie (होडिए) वह अद्य से मिलता जुलता है। वेदो मे अद्य शब्द ही मिलता है अ-द्यवि नही। इस अद्य का मध्यभारतीय बोलियो (पाली-प्राकृत आदि) मे अज्ज रूप प्रचलित हो गया। नियम यह है कि रज्ज, कज्ज आदि शब्दो का हिन्दी मे मुख-सुख के कारण राज, काज आदि बन जाता है सो हिन्दी मे अब आज का राज हो गया है। यह आज अ-द्यवि की परम्परा मे है और उतना ही शुद्ध है जितना अ-द्यवि या अद्य।

परम्परा न जानने के कारण भाषा मे विचित्र भूलें हो जाया करती हैं। देखिए कि इतवार शब्द का व्यवहार हिन्दी मे शायद ही कही देखा जाता है। अब कौतुक देखिये इतवार शब्द हिन्दी की परम्परा का है। आदित्यवार का मारवाडी प्राकृत रूप दीतवार हो गया है। प्राकृत में इसका एक रूप आइच्चवार भी मिलता है जो व्याकरणसम्मत है। हिन्दी बोली और उसकी बहन उर्दू में इतवार की ज्योति जगमगाती है। सभ्य हिन्दी बोली मे इसको रविवार, आदित्यवार आदि कहते हैं। इसी प्रकार एक शब्द सालन ले लीजिए। रसदार भाजी को उर्दू में सालन कहते है। यह शब्द संस्कृत स-लवण का प्राकृत रूप है। हम इसे उर्दू समझते हैं और हिन्दी में यह शब्द कभी का मर चुका था। शेखर का प्राकृत रूप सेहर या सेहरो है। उर्दू मे इसका सेहरा बन गया। सेहरा वास्तव मे मुकुट को कहते है। केमवहो नामक प्राकृत ग्रन्थ की पहली पंक्ति है :—सिरीहणाहो सिहि पिंछ सेहरो, जिसका अर्थ है 'लक्ष्मी का पति और मोर मुकुट धारण किए।' प्राकृत मे सेहरा मुकुट के अर्थ मे ही आता है भले ही हिन्दी शब्दसागर में इस शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ निम्न रूप में दिया गया है-"सेहरा—संज्ञा पु० (हि० सिर+हार) १—फूल की या तार और गोटो की बनी मालाओं की पंक्ति, जो दूल्हे के मौर के नीचे रहती है (२) विवाह का मुकुट मौर।"

यह सिर+हार से नही बना वरन् शेखर से बना है। उर्दू वाले भी इस सेहरे का अर्थ बहुत सकुचित कर देते है। उर्दू मे सेहरा मुकुट और वर की तारीफ या हसी मे बनाए गए शेरो को कहते है। जौक ने कहा है-

जिसको दावा हो सखुन का यह सुना दो उसको।
जौक इस तरह कहते है संखुन वर सेहरा।

जो हो सेहरे का प्रयोग अब मुसलमानों मे बहुत रह गया है। इस प्रकार के शब्द बहुत हैं जिनकी परम्परा न जानकर हम उन्हे उर्दू का समझते हैं। परम्परा को जानने की आवश्यकता इस तथ्य से भी प्रकट होती है। संस्कृत मे एक शब्द अश्ववार है। यह अमरकोश आदि मे मिलता है। यदि हम इसकी परम्परा की खोज करेंगे तो स्पष्ट पता चल जाएगा कि यह प्राचीन फारसी और पहलवी भाषाओं मे अस्पवर शब्द था। वेदो और पुरानी संस्कृत मे नही मिलता। वर्तमान हिन्दी मे इस शब्द का रूप सवार हो गया है,

किन्तु प्राचीन हिन्दी और फारसी मे इसका रूप असवार मिलता है। इसकी परम्परा जानने से पता चला कि यह हिन्दी का शब्द नही है।

परम्परा के विषय मे यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि किसी भाषा की शब्द-सम्पत्ति परम्परायुक्त होती है। यदि अद्य शब्द वेदो के समय भारत मे वर्तमान न होता तो हिन्दी आज उत्पन्न नही होती। वेद मे स्था का भूत-काल का एक रूप अस्थात् काम मे न लाया जाता तो प्रा०अत्था, दखिनी हिन्दी अथा और हिन्दी था जन्म ही न लेते। मातृष्वसा शब्द संस्कृत मे न होता तो प्राकृत माउसी, माउसिया आदि रूप पैदा ही नही होते और न हिन्दी मे मौसी शब्द ही मिलता। यह तथ्य हिन्दी भाषा के पण्डितो को भली भाति समझ लेना चाहिए कि किसी भाषा की सारी शब्द-सम्पत्ति बिना एक भी अपवाद के परम्परा से आती है। यदि किसी शब्द की परम्परा न मिलती हो तो उसे ढूढना पडेगा और परम्परा मिलने पर ही कोई शब्द हिन्दी का कहा जा सकता है, अन्यथा वह अवश्य किसी विदेशी भाषा का होगा। ऐसे शब्द को प्राचीन समय मे देशी-प्राकृत कहते थे। हेमचन्द्र सूरि ने अपने देशीय नाम माला मे लामा, थुल्मा आदि तिब्बतीय शब्दो को भी देशी-प्राकृत माना था।

भाषा विज्ञान मे परम्परा का बड़ा महत्व है। परम्परा के द्वारा ही हम अपनी भाषा के शब्दो का स्वरूप जानते हैं और इन शब्दो मे जो विदेशी शब्द नाना कारणो से घुस आते है, उन्हे पहचान लेते हैं। अघाना आदि दो-चार शब्द ही ऐसे होते हैं, जो सस्कृत मूल के किसी शब्द के विकृत रूप होते है। ध्वनि-परिवर्तन या विकार सब भाषाओं का नियम होता है। यह नियम भारतीय आर्य-भाषाओं मे वैदिक काल से काम कर रहा है। वेदों मे प्रकृत शब्द का अर्थ है 'आगे करना, दिखाना, स्पष्ट करना है।' इस प्रकृत का विकृत रूप प्रकट भी वेदो में मिलता है। शुद्ध आर्य रूप विवृत वेदो मे है और उक्त शब्द का विकृत रूप विकट भी वेदो के समय ही हो गया था। समय की प्राचीनता, मुख-सुख, कान की कमजोरी, ध्वनि की अस्पष्टता आदि के कारण शब्दो के रूप कुछ के कुछ हो जाते हैं। हम आश्चर्य मे पड जाते है कि अमुक शब्द कहा से और कैसे आया। किन्तु परम्परा चलती रहती है। हिन्दी अचानक शब्द कुछ विचित्र दिखता है, किन्तु यह शब्द अपभ्रंश के अजाणक का हिन्दी रूप है। बोलने वालो ने जा को चा सुना और उसे ले दौड़े। भाषा के इतिहास मे इस प्रकार के अनगिनत उदाहरण वर्तमान हैं। ऐसी बातो से परम्परा आगे बढ़ती है, वह टूटती नहीं।

भारतीय आर्य-शब्दों के प्रवासी भेस

संसार के सभी सभ्य देशों में शब्दों का आयात और निर्यात होता रहता है। मेरे पास एक जर्मन कोष है, जिसमें प्रायः दस हजार वे विदेशी शब्द हैं, जो जर्मन में चलते हैं। अंग्रेजी में भी हजारों परदेसी शब्द घर कर गये हैं। इन शब्दों की राम-कहानी भारत की किसी भाषा में न लिखी गयी, यह देश का दुर्भाग्य है, क्योंकि ये शब्द बताते हैं कि संस्कृति, सभ्यता, व्यापार आदि का आदान-प्रदान किस रास्ते हुआ। आज इस लेख में मैं कुछ ऐसे शब्द पाठकों के सामने रखूंगा जो भारत से विदेश गये हैं और नाना भेसों में वहां अपना स्थान जमाये बैठे हैं तथा स्वयं हम जब उन्हें पढ़ते हैं तो परदेशी समझते हैं, इनमें कई ऐसे हैं जो दो-ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत से बाहर गये थे और कुछ की विदेश यात्रा सौ-डेढ़ सौ साल पहले हुई।

पेपर शब्द लीजिए। इसका अर्थ है 'गोल और काली मिर्च'। इसका प्रचार योरप में प्राय. ढाई हजार वर्ष से है। इस तथ्य के अब पूरे प्रमाण मिल चुके हैं कि भारतीय—और ईरानी—आर्य बहुत समय तक साथ रहे और जब भारतीय आर्य ईरानियों से अलग हुए तो उनका निवास आरम्भ में काफिरिस्तान से सिन्धु के किनारे-किनारे बहुत दूर तक रहा। फारस वाले चूंकि हमारे 'स' का उच्चारण 'ह' करते थे, इसलिए हमारा देश उनकी भाषा में हिंद कहलाया। भारत के लिए हिंद का उल्लेख दार्यवहुष् के बहिस्तून के शिलालेखों में कई बार आया है। उनमें दार्यवहुंष् अपने को 'ऐर्याणाम् ऐर्यो' अर्थात् आर्यों में भी श्रेष्ठ बतलाता है और अभिमान करता है कि मैं हिन्दुओं और हिंद का सम्राट् हूं। ईरानियों का एक समय बहुत बड़ा साम्राज्य था। उनका सम्बन्ध एक ओर भारत से था और दूसरी ओर वह यूनान की विजय पर तुला हुआ था। उसकी सीमा पर उसकी सेना सन्नद्ध थी। यह गोल मिर्च उस समय ईरान होकर यूनान पहुंची और पेपेरि कहलायी।

यह पिप्पली का यूनानी रूप है। फिर क्या था? इस मसाले की सबको चाट लगी। रोम वाले भी इस पर लट्टू हुये; स्वय भारत से मगाने लगें। उनकी भाषा मे इसका भेष हुआ 'पीपर'। प्राय दो हजार वर्ष पहले गौथों ने रोम पर विजय पायी थी। उनके राजा ऐलैरिक ने रोम से जो दंड वसूल किया था, उनमे एक मद ३,००० पौंड काली मिर्च की भी थी। यह घटना बताती है कि प्राय पांच सौ साल के भीतर योरप मे असभ्य जातियों में भी गोल मिर्च की चाह होने लगी थी। जर्मनी में इसे 'प्फेप्फर' कहते हैं। डच में 'पेपेर', नार्वेजियन मे 'पिपार', स्वेडिश में 'पेप्पेर', डेनिश में 'पेवेर', इटालियन मे 'पेपे' और फ्रेंच मे 'प्वाव्र' (poivre) कहते हैं। और देखिये फिनलैंड मे भी काली मिर्च पसंद की गयी है, वहा वाले इसे 'पिप्पुरि' कहने लगे। ये सब रूप सस्कृत शब्द पिप्पली से निकले है। अंग्रेजी मे हम जब पेपर पढते हैं तो इसे मूल अंग्रेजी समझते है।

दूसरा शब्द अग्रेजी 'फौक्स' (fox) है। इसका यूरोपियन भाषाओं मे बहुत प्रचार है। जर्मन मे इसका नाम है 'फुखज' (पुराना उच्चारण फुक्त) रूसी भाषा में 'पुछ' शब्द मिलता है, जिसका अर्थ है 'बढिया ऊनी बाल' डच मे लोमडी को 'फौस' कहते है, जिसका पुराना उच्चारण था 'वौस'। ट्यूटौनिक मे इसका वेष था 'फुह्-स'। यह सस्कृत पुच्छ का रूप है, क्योकि लोमडी की पूछ मोटी और झबरीली होने से यह उसकी विशेषता है, जिस पर उसका नामकरण ही हो गया। लिथुआनियन भाषा से भी उक्त प्रक्रिया का प्रमाण मिलता है। इस आर्य भाषा मे लोमडी का नाम 'उओदेगिस' है और इस भाषा में पूछ को 'उओदेगा' कहते हैं। और सुनिये स्वयं लोमडी शब्द रोम या उसके दूसरे रूप लोम से निकला है। इसका सस्कृत रूप नही मिलता। केवल खोतान या निय की प्राकृत मे यह एक बार मिलता है 'सुने–लोमटी' रूप में। इस लोमटी का रूप बदल कर लोमडी हो गया है जो स्वयं प्राकृत ग्रन्थों में देखने मे नही आता। लोक-व्यवहार मे यह सदा जीवित रहा होगा। क्योंकि लोक-भाषा से ही यह हिन्दी साहित्य मे लिया गया।

फारसी मे एक शब्द नीनूफर या नीलूफर है। यह अरबी मे भी इसी रूप मे है। औषधि के रूप मे हिकमत मे भी ये शब्द काम मे आते हैं। और

देखिए कि हैदराबाद के निजाम की एक बहू का नाम नीलोफर है। इसका पिता टर्की का अन्तिम खलीफा था। यह शब्द भी अरबों के द्वारा यूरोपियन भाषाओं में प्रचलित हो गया है और औषधि रूप में अंग्रेजी में इसे (nenuphar) कहते है, जर्मन में यह (nenufar) है। नीलोत्पल का फारसी रूप है। पहले इसके रूप थे (१) नीलूपर, नीलूपल फिर इस शब्द के दूसरे स्थान पर आने वाले 'ल' का 'न' हो गया। अन्तिम 'ल' का 'र' उच्चारण होने लगा जो स्वाभाविक है। 'रलयोरभेद.' का भाषाशास्त्री न्याय सारे आर्य भाषाभाषी जगत् और कुछ अन्यत्र भी चलता है। यह शब्द संस्कृत नील और उत्पल से निकला और ईरानी इसे क्या ले गए कि यह सारे सभ्य जगत मे फैल गया।

'ब्रिलियंट' शब्द छात्रो मे बहुत चलता है। जो छात्र प्रतिभावान् होता है, उसे ब्रिलियंट कहा जाता है। इस शब्द का अंग्रेजी भाषा मे 'चमकदार' अर्थ है। प्रति-भा का भी यही अर्थ है। पर, जब हम अंग्रेजी पढते है और उसके अध्ययन मे काफी प्रगति कर लेते है तब ब्रिलियंट का अर्थ समझते है। यह शब्द फ्रेंच में भी है, किन्तु वह लोग हिज्जे तो यही करते है, पर उच्चारण करते है 'ब्रिय्या'। जर्मनी में यह शब्द फ्रांस से गया, अतः वहा भी इसका उच्चारण यही है। इस 'ब्रिय्या' का अर्थ चमकदार नही, किन्तु 'हीरा' है,क्योंकि हीरा भी चमकदार होता है। क्या किसी को कभी स्वप्न मे भी यह विचार आ सकता है कि यह परदेमी शब्द भी भारतीय आर्य भाषा का है। इसका भेस इतना बदल गया है कि असल रूप का पता नही चलता। इस शब्द की विशेष उत्पत्ति अथवा कहिये व्युत्पत्ति वैडूर्य (मणि) से है। इसमे भी जानने की बात यह है कि वैडूर्य शब्द भारत मे ही आसन जमाये रहा किन्तु इसका प्राकृत रूप वेरुलिय विदेश-यात्रा को निकला और यूनान तक जा पहुंचा। अवश्य ही यह भी ईरान या अरब के रास्ते वहाँ पहुंचा। उस समय भारत में वेरुलिय शब्द का अधिक प्रचार रहा होगा। यूनान मे ही इसकी यात्रा समाप्त नही हुई। यह घुमक्कड आगे बढा और लैटिन मे वेरिल्लुम कहलाया। बारहवी सदी में जर्मनी ने इस पत्थर को काट कर चश्मे बनाने आरम्भ किये। इसलिये जर्मन चश्मों को Brille ब्रिल्ले (उच्चारण ब्रिय्ये) कहने लगे। और आज भी जर्मनी मे इसी शब्द का प्रचलन है और इसके लिए दूसरा शब्द Brillenglas भी है। यह सैलानी फ्रांस भी पहुंचा। वहाँ फ्रांस वालों ने संज्ञा से इसे क्रिया बना दिया। फ्रेंच मे Briller का अर्थ

'चमकना' है जो अंग्रेजी मे कृदंत रूप में ब्रिलिअंत या ब्रिलियंट बन गया। सारे संसार की लम्बी यात्रा कर जब भारत वापस पहुंचा तो भेस और फैशन देखकर हम चकित रह गये और अपनी ही भाषा के शब्द को पहचान न सके। यह बात स्मरणीय है कि अपने को न पहचानना या पराया समझना क्या देश क्या जाति और क्या शब्द के क्षेत्र मे महान् अनर्थकारी हो जाते हैं।

चीनी भारत मे चीन से नही आयी है भले ही चीन-पिष्टक'एक प्रकार का लाल रंग' और चीन अशुक 'एक प्रकार का रेशम' का आयात वहां से होता था। किंतु शक्कर संस्कृत शर्करा के रूप में भारत की देसी उपज है। संस्कृत शब्द शर्करा का अर्थ वह चीनी है जो बढिया दानेदार हो। स्वय शर्करा का अर्थ एक प्रकार का बालू या पत्थरो का चूरा था। पर जब खाड या दानेदार चीनी पहले पहल बनी तो उसे पत्थर के चूरे की भांति देखकर उस समय की भारतीय जनता उसे शर्कर और शर्करा कहने लगी। यह शर्कर ईरानी ले गये। उस समय तक मीठी एक ही चीज वर्तमान थी। वह था मधु जिसे आर्य आदिकाल से काम मे लाते थे। जो योरोपियन विद्वान यह सिद्धात मानते हैं कि आर्यों की आदि भूमि जर्मनी के आस-पास या रूस के स्टेपीज में कही रही होगी, इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि मधु 'मीड मेट' आदि रूपो मे योरप भर में आर्यों के आदिकाल से उनकी शब्द-संपत्ति का अंग है। इससे पता चलता है कि मीठे का शौक आर्यों को बहुत पुराना था। और शहद खाकर वे उसे पूरा करते थे। यूनानी मेदु आदि इसके प्रमाण है। भारतीय आर्यों का मधु शब्द मद्य और मीठे के अर्थ मे बहुत प्यारा था ऋग्वेद मे यह दोनो अर्थों मे आया है। यह मधु शब्द 'मेतु' आदि नाना रूपो मे फिनलैंड और हंगरी मे भी पाया जाता है और अति प्राचीन काल से। पर उक्त देशो की भाषा का आर्य भाषाओं से कोई सम्बन्ध नही है। इनकी भाषा की जाति ही दूसरी है। उसे अनार्य फिनो-उग्रियन जाति कहते है। इस जाति की भाषा मे 'मेतु' शब्द शहद के लिए आदि आर्य-काल से प्रचलित है। यह पता लगाना अब असंभव है कि यह शब्द आर्य है या अनार्य, पर इतना तो निश्चित है कि इसे आदि-काल मे फिनो-उग्रियन जाति के लोग भी काम मे लाते थे। वहा यह शब्द कैसे गया? क्या उन्होने आर्यों से लिया या आर्यों ने उनसे? इसका निदान कोई नही कर सकता। किन्तु यह निदान तो इससे अवश्य निकलता है कि कभी किसी समय फिनलैंड और हंगरी वाले आर्यों के पास-पड़ोस में रहते थे। तभी इस शब्द का आदान-

प्रदान आर्यों और मंगोलो में सम्भव हुआ। इस परिस्थिति में आदि-आर्य-भूमि फिनलैंड और हंगरी के पडोस में होनी चाहिए। अस्तु, मधु तो मीठे के लिए समान आर्य और मंगोलियन शब्द है। पर शर्कर और शर्करा भारत और केवल भारत की उपज है। यह शब्द वेदों मे नही मिलता। यह ब्राह्मण और सूत्र-काल की उपज है। उस समय भी इसका अर्थ 'सिकता' है। मधु को आर्य अमृत समझते थे और शर्कर भी इसी महत्व का माना गया। इसे ईरानी ले गये और शर्कर को शकर बना दिया। अरब वाले इसका व्यापार करने लगे। उन्होंने इसके पहले अपना उपसर्ग अल् जोड़ दिया और यह अस्सोकर रूप मे अरब मे चला। इतना ही नही, जब इस्लाम स्पेन में पहुंचा तो यह पीछे कैसे रह जाता ? अरबो के साथ-साथ स्पेनिश भाषा की सुन्नत करने चला। स्पेनिश मे चीनी को अजुकार कहते है। भला, इस अनोखे रूप मे अपनी ही चीज कैसे पहचानी जाय। फ्रास मे शकर को स्युक्र (sucre) कहते है। अरबी मे इसके नाम सोक्कर और सक्कर भी हैं। अंग्रेजी रूप शुगर है जो पहले सुगर रहा होगा। इस भारतीय पदार्थ ने संसार का मुंह मीठा किया। इस शर्कर का भारतीयों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में सर्वत्र प्रचार किया। एक समय था जब हमने विश्व को सभ्य करने का बीड़ा उठाया था। उस समय परम पराक्रमी आर्य एक ओर पश्चिम और दूसरी ओर हवाई द्वीप पुंज तक ईख ले गये और सब लोगों का तन-मन उन्होने मीठा किया। शक्कर शब्द उन गौरव के दिनों का स्मारक है। इन बालू के कणों की तरह, छोटे-छोटे कणो के रूप मे होने के कारण, चीनी का एक नाम संस्कृत मे खंड भी पडा। यह खाड-खाड् रूप मे हिन्दी में वर्तमान है। इस खड ने भी बड़े चक्कर लगाये। यह भले ही अपने देश मे ही आराम से रहना चाहता हो, पर गुण का आदर करने वाले इसे भी बाहर अपने-अपने देशो को ले गये। यह शब्द फ्रास और इटली गया ही। पहले मिश्री को भी कंद कहते थे। यह मिश्री ईरान गयी और फूलों से मिलकर गुलकन्द कहलायी। यह हृदरोग आदि की औषधि के रूप मे भी काम मे आने लगी और कंद रूप मे सभी मुसलमान देशो मे बरती जाने लगी। फ्रास मे लोग न समझे कि कन्द और शकर एक ही पदार्थ है, इसलिए शकर की मिठाई को स्युक्र-कांदी कहने लगे। अगरेजी मे सुगरकैंडी एक प्रकार की मिठाई को कहते हैं। फ्रास में इस शब्द से नाम धातु भी बना दी गयी। वहां मिठाई बनाने को स कांदिर कहते हैं और इटली मे मिठाई बनाने के लिए शब्द है कांदीरे। अरबी मे मिठाई के

लिए कन्दी शब्द है। आज हमे हलवाई मिठाई खिलाता है। किन्तु यह शब्द अरबी हलवा से बना है। हिन्दी तथा अपने देश का यह परम दुर्भाग्य है हमे हलवा बहुत पसन्द आया, अपना कन्द नही। भारत मे हलवाई के लिए कांदविक शब्द या जिसका प्राकृत रूप कंदविय मिलता है। इन हलवाइयो की भारत मे एक जाति ही बन गयी है जो काँदू कहलाती है। पर ध्यान मे रखना चाहिए कि कन्द का अर्थ अपनी भाषा मे गूदेदार मूल है। हां गुलकद आदि विदेशी शब्द अपने मूल अर्थ मे प्रचलित है।

चन्दन भारत का आविष्कार है। यहा आज तक इसका बहुत व्यवहार होता है। इसका नाम भारतीय आर्यों ने चंदन इसलिए रखा कि यह उन्हें बहुत ही आनन्द देने वाला लगा। वेदो मे एक चन् धातु मिलती है। उसका अर्थ है आनन्द देना। साथ ही चद धातु भी है जो 'चमकने' के अर्थ मे है। चद्र इसी धातु से बना है और चंदन भी, दोनो धातुओ का सम्मिलन है। चंदन शीतल होने से शरीर मे लगाने पर आनन्द देता है और शरीर की शोभा या आभा भी बढाता है। इसकी गध ईरान वालो को बहुत पसन्द आयी। वे भारत से इसे मगाते थे। यज्ञ मे भी इसका उपयोग करते थे। उनका यत्न या यज्ञ अग्नि मे चन्दन चढाकर आज भी होता है। ईरान मे प्राकृत नियमो के अनुसार इसका नाम सदल पड़ा। "च" का "स" हो गया और "न" का "ल"। यह नियम आज भी चलता है। लखनऊ की बोली मे कभी कभी ल का न और न का ल हो जाता है और लखनऊ का नाम नखलऊ हो गया है, हमारा लोण, लून कई स्थानो मे नून हो गया है। इसके विपरीत नियम से चन्दन का भेस ईरानी में बना सदल। इसे अरब वाले यूनानी आदि बडे चाव से ले गये। अरबों ने इसका व्यापार किया और औषधि में भी इसका उपयोग किया। यूनानी भोग-विलास मे फसे थे। वहा इसकी खडाऊं बनने लगी जो जूते का काम भी देती थी। यूनानी मे इसका नाम पडा सदलिऔन् अर्थात् चंदनीयम्—चंदन से बना हुआ या उससे सम्बन्धित। इसके बाद रोम मे भी इसका फैशन चला। वहा इसका नामकरण किया गया संदालेअ। पुरानी फ्रेंच मे यह सादाले कहा जाने लगा। अंग्रेजी मे इसे सैंडल कहने लगे। अंग्रेजो के साथ इस शब्द ने भारतीय भाषाओ मे राज जमाया। अंगरेज तो

चले गये। राजपाट यही रख गये। पर सैंडल ने हटने का नाम न लिया। इसने दाग साहब की यह उक्ति चरितार्थ की कि—

हजरते दाग जहा बैठ गये, बैठ गये,
और होंगे तेरी महफिल से उभरने वाले

अभी भी इसका दौरदौरा है। द्राविड़ी तथा आर्य-अनार्य सब भाषाओ मे यह चलता है। भेस और रूप ऐसा बदला है कि अपने असल घर मे परदेशी बना हुआ है और नये अर्थ मे घर वापस आया है।

हिंदी-परंपरा और विदेशी शब्द-संपत्ति

कोई भाषा क्यों न हो, उसमे दो प्रकार के शब्द होते हैं, एक वे शब्द जो अपनी संपत्ति हैं याने देश-विशेष की भाषा के मूलस्रोत से निकले है और दूसरी पराई संपत्ति अथवा विदेशी शब्द होते है। संसार की प्रायः सभी भाषाओं मे उक्त दो प्रकार के शब्द मिलते है। अंग्रेजो को गर्व है कि उनकी भाषा की समृद्धि प्रायः पचीस हजार विदेशी शब्दों को ग्रहण करने से बढ़ गयी। यही दशा फ्रेंच, जर्मन, रूसी आदि भाषाओं की है। प्राचीन तथा मध्य-आर्य भाषाएं और हिन्दी इस क्षेत्र मे अन्य भाषाओं से पीछे नही हैं।

हिंदी मे जो शब्द वैदिक, संस्कृत, पाली और नाना प्राकृतों द्वारा परंपरा से आये है वे हमारी अपनी संपत्ति या कहिए ठेठ हिन्दी का ठाट हैं। जो शब्द विदेशों से आकर उसमे घुल-मिल गये है, वे पराई शब्द-संपत्ति है, किन्तु ये विदेशी शब्द इस समय हिन्दी के हो गये है और उसकी समृद्धि तथा नाना भाव, पदार्थ आदि को व्यक्त करने की क्षमता को और भी बल दे रहे है। भाषा का मुख्य उद्देश्य समाज की सेवा करना है और इसी एक ध्येय को सफल करने के लिए समाज मे इसका आविर्भाव हुआ है। यह तथ्य यूरोप मे नया निकला है, किन्तु भारत के आर्यों मे इसकी महिमा बहुत पहले से मालूम थी। मनुजी ने कहा है–

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तस्मात् यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥

*विधि-विधान, मेल-जोल, ज्ञान-विज्ञान, सामाजिक विचारो के आदान-*प्रदान आदि मे भाषा का कार्य मुख्य है। अदालत, कचहरी, न्यायालय, न्यायाधीश, सभा-समिति सभी संस्थाओं और व्यक्तियो द्वारा भाषा का उचित

और सत्य उपयोग होने से ही समाज पनपता है। शब्दों का असत्य और अनुचित उपयोग करना आसान है। उसमें बहुधा तुरत का और प्रत्यक्ष आर्थिक या सामाजिक लाभ भी दिखायी देता है, किन्तु संगठित समाज भाषा के ऐसे उपयोग से विघटित होकर पतनोन्मुख हो जाता है। यही स्थिति बचाने के लिए मनुजी को कहना पड़ा कि वाणी की चोरी या असत्य-भाषण करने से उतना बड़ा अपराध होता है जितना अन्य सब प्रकार की चोरियां करने से होता। इस कारण सामाजिक सत्य को और भी स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए लोग विदेशी शब्दों या पराई शब्द-संपत्ति को अपनाते हैं। तथा कुछ अन्य कारण भी है।

ऋग्वेद में आया है—

स घा मना हिरण्यया।

अर्थात् 'सोने के मन से'। यह मन एक छोटा तौल था। इस मना से हमारा चालीस सेर का मन हो गया है। किन्तु यह तौल भारत में खल्दी से आयी थी। असुर शब्द भी ऐसा ही है। असुर का अर्थ संस्कृत में दैत्य हो गया। आज भी हिन्दी में वही अर्थ है। यह अर्थ मूल में नहीं था। ऋग्वेद में अधिकांश स्थलों पर असुर का अर्थ 'शक्तिशाली ईश्वर' है। वरुण, इंद्र आदि इसी संबोधन से पुकारे गये हैं। ऋग्वेद में कहा गया है—

महद्देवानामसुरत्वमेकम्।

अर्थात् देवों का महत् असुरत्व (ईश्वरीय शक्ति) एक है। यह वैदिक अर्थ असुर शब्द के मूल-अर्थ का वाचक है। इस असुर को पारसी लोग अहुर कहते थे और आज भी कहते हैं। यह शब्द असीरिया या असूर्या से भारत पहुंचा। असूर्या जिसे प्राचीन समय में अतुरिया भी कहते थे असुशुर देवता को परमेश्वर मानता था। इस देश का राज ईरान पर भी हुआ और ईरान के आस-पास रहने वाले भारतीय आर्य भी इसके संपर्क में आये और इस शब्द को अपने साथ भारत ले आये। बाद को इसका मूल अर्थ उलट गया किन्तु रूप वर्तमान है। यह शब्द पराई शब्द-संपत्ति है जो अब हिन्दी की अपनी हो गयी है। लोकमान्य तिलक का कहना है जर्फरी तुर्फरी आदि कई शब्द खल्दी (chaldean) भाषा के अथर्व वेद में आये हैं। अतः मानना पड़ेगा कि वेदों के समय से ही भारतीय आर्यों ने पराई शब्द-संपत्ति अपनायी।

है—'वह जो जूते आदि बनाने का व्यवसाय करता हो।' पाठक देखें कि उक्त दोनो अर्थों से यह नही जाना जा सकता कि मोची और चमार मे क्या भेद है ? इसके अतिरिक्त चमार के संस्कृत रूप चर्मकार से इसके अर्थ का पता चल जाता है, इसका प्राकृत रूप चम्मार भी मिलता है, जिसका अर्थ पाइय सद्द-महण्णवो मे 'चमार, मोची' दिया गया है। इससे यह आभास मिलता है कि चमार और मोची एक ही है और एक ही पेशा करते हैं। यह भ्रम हिन्दी में न मालूम कब से चला आ रहा है औरअभी तक स्पष्टनही हुआ है। कारण स्पष्ट है। जब तक किसी शब्द की व्युत्पत्ति नही जानी जाती उसका शुद्ध और सच्चा अर्थ लग नही सकता। यह मोची शब्द हिन्दी हो गया है और सबके मुह पर है, किन्तु यह विदेशी है। तमाशा यह है कि अपने देश मे इस शब्द का दूसरा रूप मोजा भी चलता है। अवेस्ता मे पॅति-मओच् का अर्थ (जूता) पहनना है। प्रमुच् का अर्थ है (जूता) खोलना। । मुच् धातु के ये रूप ऋग्वेद मे भी पाये जाते है। उसमे प्रतिमुच् का अर्थ पहनना है और प्रमुच् का अर्थ 'छोड़ना और खोलना' है। अवेस्ता और प्राचीन फारसी के बाद ईरान मे पहलवी भाषा बोली और लिखी जाने लगी। इसमे मोचक शब्द मोजे के अर्थ मे व्यवहृत होने लगा। मोजा पहले मोचा कहा जाता होगा और मोचा या कपड़े का जूता बनाने वाला मोची कहलाने लगा। अब इस शब्द की दशा यह हो गयी है कि मोची और चमार मे क्या भेद है इसका हिन्दी वालों को पता ही नही है। यह मोची शब्द का अर्थ-सबधी पतन या भ्रष्टता है। अफगानी मे मोजे को मोज कहते हैं। बलूची मे इसका रूप मोजा है। मोनियर विलियम्स के संस्कृत-अग्रेजी कोश मे मोची के लिए मोचिक और जूते के लिए मोचक शब्द दिये गये हैं। इनका प्रयोग सस्कृत-साहित्य मे कही नही मिलता। मोचिक का प्राकृत रूप मोचिअ भी मिलता है और देशी प्राकृत मे मोच भी चलता था जिसका अर्थ एक प्रकार का कपड़े का जूता था। उक्त सस्कृत, प्राकृत तथा देशी प्राकृत रूप यह सिद्ध नही करते कि उक्त शब्द भारतीय प्राचीन आर्य भाषा मे थे; इनसे इतना ही सिद्ध होता है कि कभी मोचिक प्राकृत मोचिअ और देशी प्राकृत मोच 'एक प्रकार का कपड़े का जूता' का प्रचार जनता मे हमारे कोशो के बनने से पहले हो गया था और यह शब्द ठेठ पहलवी से आया क्योकि उसमे मोचक 'कपडे का जूता' आया है।

गंज का प्रयोग स्वय सस्कृत मे है। बनारस मे विश्वेश्वरगंज, लखनऊ मे

हुसैनगज, इलाहाबाद मे दारागंज आदि गंजो की भरमार है। गंज का उल्लेख सत्रह सौ साल पहले खोतान की प्राकृत मे पाया जाता है। यहा गजवर खजाची के लिए आया है। फारसी मे खजांची को गंजवर कहते हैं। खजाने को गज। हेमचंद्र ने अभिधान-चिंतामणि मे दिया है—

गञ्जो भाण्डागारे रोढाखन्योर्गञ्जा सुरागृहे।

अमरकोश मे है—'गंजा तु मदिरागृहम्'। हलायुध की अभिधान रत्नमाला में है—'गंजो भांडागारे'। यह शब्द साहित्य में भी काम मे आता है। कथा सरित्सागर, राजतरंगिणी आदि मे गंज का उल्लेख है। राजतरंगिणी में तो गंजवर शब्द भी खजाची के अर्थ मे आया है। संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर मे दिया गया है कि यह शब्द फारसी और संस्कृत दोनों भाषाओ मे समान रूप से आया है और इसकी व्युत्पत्ति दोनो से निकाली जा सकती है। उसके विद्वान् संपादकों ने यह नही समझा कि संस्कृत मे गंज धातु का अर्थ है 'विशेष प्रकार की ध्वनि करना' तथा गंज और गंजन शब्दों का अर्थ 'तिरस्कार' है अतः यह दूसरा गज संस्कृत के किस धातु से बना? संस्कृत मे सुरागृह के लिए गंजिका भी आया है। यह गंज और गजिका 'गाजे' के प्रतापसे बने हैं, जिससे नशा होता है। यह शब्द विशुद्ध ईरानी है और संस्कृत मे वहा से ले लिया गया है। इस शब्द का उत्तर भारत मे इतना प्रचार है कि स्वयं संस्कृतज्ञ इसके विषय मे भ्रम मे पड़ जाते हैं। संस्कृत के कोशकार भी इसी चक्कर मे आ गये। यह सपत्ति अब हमे हजम हो गयी है। दो हजार वर्ष से यह अपनी हो गयी है।

असवार और आसवार शब्द प्राचीन हिन्दी मे बहुत काम मे आये हैं। अपभ्रंश प्राकृत मे इसका बोलबाला है। खड़ी बोली मे इसका रूप सवार हो गया है। घुड़सवार बोलचाल का साधारण शब्द है। इसमे असवार सवार हो गया है। संस्कृत मे भले ही कोई लेखक अश्ववार रूप बना ले; किन्तु उसमे सवार के लिए अश्वारोह है, सादिन् भी पुराना शब्द है। यह शब्द विशुद्ध पराई संपत्ति है, भारोपा और भारती-ईरानी परिवार का होने पर भी यह ईरान से भारत और हिन्दी मे आया है। घोडे को अवेस्ता की भाषा में 'अस्प' कहते है। विश्ताम्प ईरानी मे दारयवुश के पूर्वज का प्रसिद्ध नाम है। फिरदौसी ने अपने शाहनामा मे यह नाम गुस्तास्प दिया है। पहलवी में प्राचीन व का ग हो गया है। हम देखते हैं कि अवेस्ता का विचार फारसी मे

गुजर हो गया है और अवेस्ता के वेह्र्क का नयी फारसी में गुर्ग हो जाता है आदि आदि। प्राचीन फारसी में अस्व का अस्प रूप बन गया था। उस समय असवार या अस्पवार रूप मिलता है। इन दोनों का अर्थ सवार है। यह शब्द बाद की भाषा पहलवी में असबार हो गया। अस्पवार रूप भी मिलता है। यही शब्द कुर्दों की भाषा में सुवार पश्तो में स्पोर, और बलूची में सवार है। हिन्दी में भी इसका यही रूप है। अब तमाशा देखिए कि कुछ फारसी *कोशों में दिया गया है कि सुवार या सवार फारसी में संस्कृत अश्ववार से* आया है। श्री हरगोविंददास सेठ ने प्राकृत कोश पाइअसद्द महण्णवो में आसवार की उत्पत्ति संस्कृत अश्ववार से निकाली है। यह अश्ववार सभी अच्छे संस्कृत कोशों में ऐसा लापता है जैसे गधे के सर से सींग। केवल अभिधान चिंतामणि में हेमचंद्र सूरि ने दिया है—

अश्वारोहे अश्ववारः सादी च तुरगी च स.।

अन्यत्र शिशुपाल-वध में निम्न पद्य मिलता है—

परस्परोत्पीडितजानुभागाः दुःखेन निश्चक्रमुरश्ववाराः।

शब्द कल्पद्रुम में दिया गया है—'अश्वम् वारयतीति अश्ववारः' याने अश्ववार वह है जो घोड़े का नियंत्रण कर सके। मोनियर विलियम्स ने अश्ववार के अर्थ दिये हैं : घोड़ावाला आदमी और साईस। इसका सवार अर्थ नहीं मिलता। अतः स्पष्ट है कि सवार के अर्थ में संस्कृत में अश्ववार का प्रयोग नहीं मिलता और फारसी में इस शब्द की परंपरा प्राय. दो हजार वर्ष से पहलवी के असबार या अस्पबार से आज तक चली आती है। सवार तो स्पष्ट ही फारसी सवार है। इसलिए यह भी पराई संपत्ति है जो अब अपनी हो गयी है।

दाम शब्द को संक्षिप्त शब्दसागर ने द्रम्म से उत्पन्न किया है। अतः यह माना जाना चाहिए कि दाम अपने घर का है और संस्कृत का तद्भव है। किन्तु यदि हम संस्कृत में द्रम्म की खोज करेंगे तो मालूम होगा, द्रम्म बहुत दूर से भारत आया है। यह यूनानियों का सिक्का है। यूनानियों में सोने का एक सिक्का ड्राक्मे चलता था। रोमन भी इसे व्यवहार में लाते थे और इसे ड्राक्मा कहते थे। यह सिक्का यूनानियों के साथ भारत आया और जब यूना-नियों ने सिकंदर के बाद भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान पश्चिमी

पाकिस्तान) पर राज्य किया तो द्राह्मे चला था। ईरान के बक्त्रिया नामक देश मे भी इनका राज्य था। वहां भी ये सिक्के चलने लगे। ये द्राह्मे भारत में द्रम्म और बक्त्रिया मे दिरम कहलाये। द्रम्म का प्राकृत रूप दम्म और उससे हिन्दी दाम शब्द निकला। दाम सिक्का भारत मे हाल तक चलता रहा। छदाम इसका प्रमाण है। इस शब्द का ऐसा प्रचलन रहा कि किसी को भान भी नही है कि यह विदेशी है। इसका प्रमाण हिन्दी कोश हैं जो एक स्वर से कह रहे हैं कि दाम संस्कृत से निकला है। ऐसे अनेक शब्द हैं जो भारत में स्वदेशी या घरेलू लगते हैं, पर हैं बाहर के। यहां उक्त शब्द ही यथेष्ट हैं। इन शब्दों से मालूम होता है कि किसी भाषा में विदेशी शब्द घुस जाते है और उसमे ऐसे मिल जाते हैं कि स्वयं उस भाषा के बोलने वालों को इसका पता ही नही लगता। वे अपनी रोजमर्रा की बोली जाने वाली भाषा के पराये और अपने शब्दों मे कठिनता से भेद कर पाते हैं। उर्दू में सालम 'तरकारी' के अर्थ मे व्यवहृत होता है और हम उसे निरा उर्दू का शब्द समझते हैं। हिन्दी मे यह चलता ही नहीं। किन्तु यह संस्कृत सारण 'छांछ का मठा' तथा प्राकृत सालणय का रूपातर है जिसका अर्थ है 'कढ़ी के समान एक तरह का खाद्य।' इतवार आदित्यवार का रूप है किन्तु हिन्दी मे बोलने में भले ही इसका उपयोग अपढ़ लोग करते हैं, किन्तु यह उर्दू में काम मे आता है। कि का प्रयोग हम ऐसा करते हैं कि बहुत कम वाक्य ऐसे हैं जिनमे कि न आये। हम इसे अपनी निजी शब्द-संपत्ति मानते है। हिन्दी-शब्द-सागर मे दिया है— 'कि—अव्य० सं० किम् फा० कि।' किन्तु इसका सस्कृत किम् से कोई संबंध नही है। यह विशुद्ध फारसी शब्द है। पराई शब्द-सपत्ति भी निजी भाषा का बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करती है। इसी मे इसकी सार्थकता है।

संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं की मौलिक एकता

भारत मे अति प्राचीन समय मे जब आर्य आये तो वे अपने साथ आर्य भाषा लाये। प्रारम्भ मे यह भाषा काम्बोज, हिंदूकुश, गाधार और सिन्धु देशो मे फैली। ये आर्य उक्त देशो मे बसे और पुरदर (इन्द्र) के इन कुछ अनुयायियो ने मोहनजोदड़ो की, सभवत सुमेरियन सभ्यता को, जो उच्चता के शिखर पर पहुंच चुकी थी, इतना दल डाला कि अभी तक उसका ठीक-ठीक पता नही चल सका है। इधर खित्ताइत (Hittite) भाषा के आविष्कारक चेक विद्वान ह्रोजनी महोदय ने मोहनजोदडो के अक्षरो का पता चलाना आरम्भ किया था कि वे मर गये। उनके विचार से मोहनजोदडो की लिपि आर्य थी और खित्ताइत लिपि से मिलती थी। आर्य, आर्यों के साथ भी लडते ही थे। इसके प्रमाण भारत और ईरान मे अनेक मिलते है। आर्य भाषाओ के दो भेद है—पहला जो योरप की ओर गया। दूसरा वह जो सीरिया, ईरान, काबुल आदि होता हुआ भारत पहुचा। खत्ती (Hittite) बोली योरप की ओर जाने वाले आदि आर्यों की आदि आर्य भाषा मानी जाती है। यह भाषा चार हजार वर्ष पुरानी है और वेदो की भाषा से भी पहले की मानी जाती है। इसका जो पहला वाक्य ह्रोजनी साहब ने पढा वह विशुद्ध आर्य है और उसमे शब्दों के योरोपियन रूप हैं, जैसे Water के लिए Vadar (वदर) शब्द आया है। मेरे विचार से यह शब्द उद्र रूप से वैदिक और संस्कृत मे मिलता है। समुद्र शब्द सं + उद्र से बना है। इसका अर्थ है 'वह विस्तृत स्थान या गड्ढा जिसमे जल एकत्र होता है।' यह उद्र ग्रीक भाषा मे हुद्रोस रूप मे मिलता है, जिसका रूप अगरेजी मे Hydro हो गया है। Hydro-gen शब्द का अर्थ है 'वह गैस जो उद्र (जल) को जन्म देती है।' पाठक जानते ही है कि संस्कृत मे जन धातु का अर्थ

'पैदा करना, जनना' है। अंगरेजी के शब्द Oxygen, Nitrogen आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। अब और आश्चर्यमय तुलना देखिये कि जिस प्रकार आदि आर्य धातु गेन् 'जनना, पैदा करना' ग्रीस देश की भाषा मे रह गया था और भारत मे भी भारतीय आर्यों को वैदिक समय मे इस गेन् धातु की तो नही, किन्तु इसके कुछ रूपो की स्मृति बनी रही। गणपति, गण, ग्ना आदि रूप ऋग्वेद मे अब तक पाये जाते हैं। जब हम अगरेजी शब्द Republic का अनुवाद गण-तंत्र रूप में करते हैं तो यह नही ताड सकते कि गण आदि आर्य धातु गेन् का ही एक रूप है। भारतप्रवासी आर्य कभी गेन् धातु का अर्थ 'जनना' करते होंगे। ग और ज का बडा साम्य है। इसलिए सस्कृत मे ज के स्थान पर ग और ग के स्थान पर ज का मेल दिखाई देता है। जगत्, जगाम आदि मे ग के स्थान पर ही ज आ बैठा है। ग के स्थान पर ज का आगमन मुख-सुख के कारण ही हुआ होगा। वैदिक ऋषियों को गेन् धातु के रूप याद रहे, किन्तु प्राचीन आर्य भाषाओ मे ये रूप चल बसे। यहा ग के स्थान पर ज का ही जोर रहा। जन, जन्म, जनन, जनना आदि ऐसे ही रूप हैं। किसी समय गण-तन्त्र का अर्थ था 'जाति विशेष का प्रजातंत्र'। हमारे प्राचीन गण, जाति-विशेष से ही सम्बन्ध रखते थे। तमाशा देखिए कि अगरेजी भाषा मे भी e से पहले आने वाले g का उच्चारण ज हो जाता है। इटालियन मे भी ऐसा ही नियम है। इस नियम के अनुसार gen अगरेजी मे जन् हो गया है। समय और स्थान का माहात्म्य देखिए कि ग्रीक ग बहुत समय के बाद योरप के इगलैंड, इटली आदि देशो मे तथा भारतीय आर्य भाषाओ मे ज रूप मे उच्चारित होने लगा है।

अगरेजी मे एक शब्द Eugenics (यूजेनिक्स) 'सु-जनन शास्त्र' है। इसमे सु के स्थान पर ग्रीक उपसर्ग Eu (यु) है। जेनिक मे पाठक संस्कृत शब्दो जनक, जननी आदि के रूप देख रहे होंगे, जो जन् 'पैदा करना' धातु से निकले हैं। इसी प्रकार का एक शब्द Pro-geny (प्रोजेनी) है जिसका अर्थ है 'प्रजा।' हमारी सृष्टि के आदि—जनक ब्रह्मा का एक नाम प्रजापति भी है। यहा प्र-जा का अर्थ प्रो-जेनी है। संस्कृत, हिंदी और अगरेजी आर्य भाषाए होने के कारण यह साम्य देखा जा रहा है।

अब देखिए कि अंगरेजी मे Cruel शब्द हिंदी मे क्रूर हो गया है।

अगरेजी में Cruel, Cruelly क्रूड आदि शब्द सस्कृत क्रूर के समान वैदिक क्रवि (रक्त) से निकले है। क्रवि के ऋग्वेद मे क्रु, क्रविहस्त क्रव्याद आदि रूप मिलते हैं। अंगरेजी शब्द go और come दोनो ही रूप गम् धातु से आये हैं। अति प्राचीन समय मे गम् का अर्थ 'आना और जाना' दोनो ही था। बाद को संस्कृत मे आगम 'आना' और निगम, निर्गम 'निकलना' रूप बनाये गये। अंगरेजी Cow हमारे गो का ही रूप है। शब्द किस भाति घिस-मंज कर और स्वरों को बदल कर अपना रूप बदलते जाते हैं उसका उदाहरण Sweet है। यह स्वीट् हमारे स्वादिष्ट शब्द का अगरेजी प्रतिरूप है। इसका जर्मन रूप suess (ज्युस्स) है। उक्त दोनो रूप गोथिक भाषा के su-t-st (सुत्स्त) रूप से निकले है। देखिए स्वादिष्ट की चीर फाड करने पर इसमे ३ भाग मिलते हैं; सु-अद्-इष्ट; सु का अर्थ है 'अच्छा', अद् का अर्थ है 'खाना' और इष्ट का अर्थ है 'सबसे अधिक'। गोथिक सुत्स्त मे इस शब्द के ये तीनो भाग वर्तमान है। su (सु) का अर्थ 'अच्छा' है। अद् धातु के स्थान पर उसका घिसा और विकृत रूप केवल हलन्त त (त्) रह गया है, यह त् अगरेजी मे इस समय eat रूप मे वर्तमान है। st (स्ट) हमारे इष्ट के स्थान पर बैठा हुआ है। अब देखिए घिसते मंजते सस्कृत का स्वादिष्ट शब्द गोथिक मे सु-त्-स्त रूप मे परिवर्तित हो गया। यह गोथिक शब्द भी अगरेजी मे स्वीट रूप मे आ खड़ा हुआ तथा जर्मन मे suess रूप मे। हमारे प्राकृत के साइज्ज, साइम आदि शब्द भी स्वाद से सम्बन्ध रखते हैं। कुछ रग लीजिए। अगरेजी मे Pale हमारा पीला है। वैदिक बभ्रु 'भूरा' अगरेजी मे Brown रूप मे वर्तमान है। लाल रंग का अंगरेजी समानार्थक Red संस्कृत रुधिर का अगरेजी रूप है। हमारा अंतरिम या अंतर का रूप अगरेजी में इटरिम (Interim) है। हमारा अंतर अगरेजी मे Inter है। बभ्रु शब्द का वेदों में एक अर्थ वह जल-जन्तु है जिसको अंगरेजी में Beaver (बीभर) कहते हैं। ऋग्वेद में उद नामक एक जल-जंतु का भी उल्लेख है जिसका हिंदी में ऊद (-बिलाव) शब्द में ऊद रूप में प्रयोग है। यह उद्र अगरेजी में otter (ऑटर) हो गया है। वैदिक उक्षन् (बैल, साड़) अंगरेजी में ox (औक्स) रूप में वर्तमान है। मनु या मनुष्य को अंगरेजी में man (मैन) कहते हैं। यह शब्द जर्मन भाषा मे मनुष्य से घिस कर Mensch (मेन्श) रूप में मिलता है।

कोयला शब्द प्राकृत में कोइल है और कहा जाता है कि इसका सस्कृत

अंगरेजी में होन्ड भी हो गया है। Hundred मे जो red प्रत्यय आया है उसका अर्थ rate='दर या भाव' है। इस शब्द का वास्तविक अर्थ हुआ 'सैकड़ा।' इस प्रकार हम अब जान गये कि हिंदी के बहुत से शब्द योरप की नाना भाषाओं के शब्द से मिलते जुलते हैं। कारण यह है कि आर्य जाति मे हम सब भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के निवासियो का जन्म होने के कारण हमारे बहुत से शब्द और व्याकरण के रूप अवश्य मिलेंगे।

इसी प्रकार हम फिनलैण्ड, हंगरी, एस्थोनिया इन ३ देशो को छोड़कर *सर्वत्र आर्य भाषा का बोलवाला पाते है, जिनमे आर्य शब्द ईरान, भारत* आदि देशो के समान ही पाए जाते हैं। इस शब्द-साम्य को देखकर ही योरप के भाषा-वैज्ञानिको ने यह प्रमाणित कर दिया है कि सब आर्य भाषाओ मे *शब्दो और व्याकरण के रूपो की समानता पाई जाती है। योरप की सभी* भाषाओ के हजारो शब्द सस्कृत और हिंदी से मिलते जुलते हैं। अंगरेजी सर्वनाम We, you, your आदि वय, वः-रा आदि के जोड़ के हैं। His का s वैदिक और सस्कृत स्य का घिसा रूप है। Hi-m का m सस्कृत कर्मकारक की विभक्ति-म् का ही प्रतिरूप है। लेख बढ़ने के भय से अधिक शब्द नही दिये जा रहे है। अगरेजी मे भारतीय आर्य भाषाओ के समान इतने अधिक शब्द है कि एक पुस्तक इन शब्दो से भरी जा सकती है, किन्तु निबंध बढने के भय से उनका उल्लेख यहा पर नही किया जा सकता।

व्युत्पत्ति का नया रूप

घटना डेढ सौ साल पुरानी है। सैमुएल जौन्सन ने नाना विषयों पर पुस्तकें लिखी और ऐसी प्रतिभापूर्ण लिखी कि सारा ग्रेट ब्रिटेन उसके पांवों पर गिर गया। वह अपने समय का महान विद्वान माना गया और साथ ही उसका वार्तालाप-अंगरेजी भाषा पर उसका पूरा अधिकार होने के कारण— आज तक अपनी आभा से सब पाठको के मन को चमक-दमक से भर देता है। जौन्सन-बौसवेल का वार्तालाप, डेढ सौ वर्ष बाद आज भी पाठको के सामने हीरा-मोती बिखेरता है। जौन्सन को प्रौढ़ आयु मे अपने उस समय के लिए, प्रायः पूर्ण ज्ञान पर बड़ा गर्व था और यह उचित ही था। अंगरेजी भाषा पर उसका एक-छत्र राज था। अब उसे अंगरेजी मे एक आदर्श कोश तैयार करने की सूझी। इस सुसमाचार ने योरप भर मे खलबली और धूम मचा दी। अंगरेजो के आनन्द की सीमा न रही कि पहला वृहद् और सव्युत्पत्तिक कोश हमारी प्यारी मातृभाषा मे निकल रहा है और वह भी परम विद्वान जौन्सन के सम्पादकत्व में।

कोश प्रकाशित हुआ। हजारों के संस्करण बात की बात में समाप्त होने लगे। जौन्सन और प्रकाशक लक्ष्मी-पति बन गए। दोनो को लाखो का लाभ हुआ। यह कोश प्रामाणिक माना गया। अंगरेजी साहित्यिक-जगत और योरप के विद्वानो में कोश की धाक जम गई। अपने समय मे जौन्सन की व्युत्पत्ति और अर्थ प्रमाण बन गए।

प्रायः पौने दो सौ वर्ष पहले योरप मे संस्कृत के पठन का श्रीगणेश हुआ। १७८४ ई० में सर विलियम जोन्स ने प्राच्य भाषाओं का अध्ययन और शोध करने के लिये कलकत्ते मे एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। १८१६ ई० मे जर्मन विद्वान फ्रांस्ज बौप ने अपना डाक्टरी का निबंध प्रकाशित किया—

'संस्कृत, जेन्द, ग्रीक, लैटिन, केल्टिस, गौथिक आदि की तुलनात्मक रूपावली। इसमे उन्होंने यह तथ्य सिद्ध कर दिया कि उक्त सब आर्य-भाषाएं हैं तथा बहनें हैं। इसका एक मुख्य परिणाम यह हुआ कि व्युत्पत्ति की पद्धति और उसका रूप दूसरा ही हो गया। कुछ ही वर्षों मे वेबर, लास्सन, कूर्टिउस, ब्रुगमान आदि ने सभी भारोपा भाषाओं की वह चीरफाड की कि संस्कृत, फारसी, ग्रीक, लैटिन आदि का विशुद्ध और मूल रूप हमारे सामने आ गया। इस शोध से स्कीट नामक एक अंगरेज विद्वान ने लाभ उठाया। जौन्सन के प्राय: सौ वर्ष बाद उसका व्युत्पत्ति-कोश अगरेजी मे प्रकाशित हुआ और अब वही प्रामाणिक माना जाता है। *जौन्सन साहब ने बताया था कि अगरेजी मे* लड़की को 'गर्ल' इसलिए कहते हैं कि वह 'गैरलस' अर्थात् बहुत बकबक करने वाली होती है। स्कीट साहब ने बताया कि 'गर्ल' का जर्मन रूप 'केर्ल' है जिसका अर्थ *'मनुष्य या काम करने वाला आदमी' है। जौन्सन ने बताया* कि 'पीकौक' मोर को इस कारण कहा गया कि उसके सर मे 'कौक' याने 'कलगी' होती है। स्कीट ने बताया कि फारसी 'ताऊस' का ग्रीक मे 'पाओस' बन कर 'पीकौक' रूप *अंग्रेजी मे आया। स्कीट की शोध ने जौन्सन की* व्युत्पत्ति को धता बता दी। विद्वान मान गए कि व्युत्पत्ति का तुलनामूलक और ऐतिहासिक रूप ही अधिकारपूर्ण है।

जौन्सन ने व्युत्पत्ति देने का प्रयत्न किया, किन्तु उसके समय तक योरप में व्युत्पत्ति शास्त्र ने जन्म भी नही लिया था। ग्रीक भाषा मे उसके विद्वान लेखको ने *सब विषयो में अपनी मातृभाषा का कोश सर्वांगपूर्ण कर दिया।* ग्रीक भाषा प्रसाद-गुण-सम्पन्न और मुहावरेदार है। उसे पढिये और आनन्द के चटखारे भरते जाइए। किंतु ग्रीक भाषा के पंडितो को पता न था कि व्युत्पत्ति किस खेत की मूली है। *इसलिए संस्कृत पठन-पाठन के साथ निरुक्त,* अष्टाध्यायी आदि पढ़ने पर योरप के प्राच्य-पडितो को सूझा कि व्युत्पत्ति का भी शास्त्र होता है। तबसे उन्होंने सव्युत्पत्तिक कोश प्रकाशित किये। यास्काचार्य ने *प्राय: ढाई हजार* वर्ष से पहले यह सिद्धान्त समझा कि शब्दो की व्युत्पत्ति से ही शब्द अपना अर्थ खोलता है। शाकटायन ने स्पष्ट कहा था कि प्रत्येक शब्द किसी-न किसी धातु पर आधारित होता है। ये भारतीय आचार्य व्युत्पत्ति शास्त्र को जड जमा गये हैं। ससार के भाषा-शास्त्री इन्हे अपना गुरु मानते हैं। किन्तु योरप वाले ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे, हमारे प्राचीन

ज्ञानियो की भाति 'नेति-नेति' का सिद्धांत मानते है। प्रत्येक पदार्थ और ज्ञान का विकास होता है। अन्त या समाप्ति नही होती। भाषा-शास्त्र का श्रीगणेश महीदास, शाकल्य, शाकटायन, यास्काचार्य आदि ने किया। पर उसका विकास भारत में एक सीमा तक हुआ। प्रारम्भिक प्रयास सदा और सब क्षेत्रो में अपूर्ण होते हैं। बाबा वाक्य प्रमाण का सिद्धात भेड़िया-धसान की हामी जनता में चलता है, वैज्ञानिको में नही।

अब देखिए यास्काचार्य ने 'विधवा' की व्युत्पत्ति बताई है-'विधवा, विधातृका भवति। विधवनाद्वा। विधावनाद्वेति प्रचर्णशिराः। अपि वा धव इति मनुष्यनाम। तद्वियोगात विधवा'। दुर्गाचार्य ने इसका अर्थ बताया है-जिसका धारण या पोषण करने वाला मर गया हो, वह 'विधवा' है। अपने स्वामी की मृत्यु के समय कापने के कारण 'विधवा' नाम पडा। प्रचर्णशिरा कहते है कि पति मरने के बाद इधर-उधर भटकने या दौडने के कारण 'विधवा' नाम सार्थक है। यह भी सम्भव है कि मनुष्य का एक नाम 'धव' है। उसके वियोग से 'विधवा' शब्द बना हो। इससे विद्वान पाठक समझेंगे कि यास्काचार्य ने विधवा की निश्चित व्युत्पत्ति नही दी है। विधवा शब्द की व्युत्पत्ति की संभावनाए जो उनके समय मे प्रचलित थी, एकत्र कर दी। यह वैसा ही हुआ जैसा एक लेखक ने एक पत्र मे अपनी कुछ व्युत्पत्तियों के सम्बन्ध मे लिखा था-'मेरी दी हुई व्युत्पत्तिया मेरे सुझाव समझे जाने चाहिए।' लेकिन हमें जानना चाहिये कि संभावनाएं और सुझाव व्युत्पत्तियां नही होती। व्युत्पति का आधार पक्का होना चाहिए। उतना निश्चित तो होना ही चाहिए जितना जर्मन, फ्रेंच, अंगरेज, अमेरिकन आदि प्राच्य-विद्या-विशारदो ने इसके सिद्धान्त पक्के कर, आर्य-भाषाओं के शब्दो की जड़ खोद निकाली है।

'विधवा' शब्द को ही लीजिए। यास्काचार्य ने इसकी व्युत्पत्ति की संभावनाएं दी और यह मान लिया कि इसकी व्युत्पत्ति की और कोई संभावना नही होगी। किन्तु जब योरप में तुलनामूलक भारोपा-भाषाओं की शोध हुई तो कुछ दूसरी व्युत्पत्ति सामने आ खड़ी हुई। 'विधवा' शब्द लैटिन में 'विदुआ' रूप मे मिला। अन्य भारोपा भाषाओ मे भी इसके रूप मिले। लैटिन मे विद् धातु पाया गया, जिसका अर्थ भाग करना, अलग करना है। यह धातु अंगरेजी शब्द 'डिवाइड' मे भी है। डि-वाइड=लै. विद् 'भाग

करना' इस धातु का वैदिक रूप 'विध्' मिला जिसका अर्थ 'अलग होना, अकेला रहना' है । चन्द्रमा को वेदों मे 'विधु' भी कहा गया है । यह इसलिए कि आकाश मे चन्द्रमा सब तारों से न्यारा है । वही प्रकाश देता है और कोई तारा नही । 'विधवा' इस विध्' से बना है । मनुष्य या पति के अर्थ में वेदो में 'धव' शब्द नही मिलता । यही नई और आलोचनात्मक व्युत्पत्ति–'विधुर' वह पुरुष जिसकी पत्नी मर गई हो–शब्द के लिए भी लागू होती है । अन्य भारोपा भाषाए व्युत्पत्ति मे बड़ी सहायक हो रही हैं । अवेस्ता मे 'वार' धातु है जिसका अर्थ है वर्षा होना । इससे हमें मालूम हुआ कि 'वारि' का मूल अर्थ 'वर्षा का जल' था । अंगरेजी 'स्वीट', गौथिक 'सुत्-स्त' से हमे पता चला कि 'स्वादिष्ट' मीठे को कहते थे । फ्रेंच 'वेव' का 'ब्वेवा' तथा प्राकृत 'विइवा' से हम समझ पाये कि ये विधवा से निकले हैं । आदि-आदि ।

भारोपा भाषा के इस तुलनात्मक ज्ञान ने आर्य शब्दो का रूप निश्चित करने में भी बड़ी सहायता की है । इस ज्ञान के द्वारा हिंदी या संस्कृत शब्दों का रूप निश्चित होकर, व्युत्पत्ति की जाच-पडताल हो जाती है । एक उदाहरण लीजिये । 'नख' की व्युत्पत्ति मैंने समझी कि सम्भवतः खन् धातु से हो; क्योकि नाखून से पशु जमीन खुरचते या खनते हैं । 'अचलपुर' का वर्ण-विपर्यय होकर 'एलिचपुर' (बरार का एक नगर) हो गया है । 'हृद्' का हिंदी मे 'दह' हो गया है । 'काली-दह' मे श्रीकृष्ण ने नाग मथा था । 'लघुक' का 'लहुक' फिर 'हलुक' 'हलका' हो गया, आदि आदि । इस वर्णविपर्यय के नियम से 'नख' 'खन्' धातु से व्युत्पन्न किया जा सकता है । तर्क के लिए मान लीजिए कि मेरी कल्पना मे यह व्युत्पत्ति ठीक बैठ गई । मैंने अपने कोष मे यह दे भी दी । नये व्युत्पत्ति शास्त्र में तुरन्त इसकी जाँच हो जाएगी । नए तुलनात्मक व्युत्पत्तिशास्त्र का पण्डित बता देगा कि यह व्यु-त्पत्ति शास्त्र पर नही, कल्पना पर आधारित है । इसका निर्णय सहज है । आप इस शब्द के रूप मे भारोपा भाषाओ मे देखेंगे । 'नख' फारसी मे 'नाखुन' है । ग्रीक मे इसका रूप था 'ओ-नुख' लैटिन मे 'उगुइस' । आज भी भारोपा भाषाओं मे सस्कृत से सबसे अधिक मिलने वाली लैट्वियन भाषा मे 'नख' को 'नगस्' कहते हैं । रूस आदि देशों मे इसका रूप था 'नोगु-ति' । अगरेजी मे इसे 'नेल' कहते है; पर प्राचीन अंगरेजी मे यह रूप 'नेगल' था । बाद को 'ग' उड गया । जर्मनी में इसे आज भी 'नागल' और बहुवचन मे

'नेगल' कहते हैं। पाठक देखेंगे कि भले ही ग्रीक और लैटिन में इसमें 'अ या 'ड' आरम्भ मे उच्चारणार्थ जोड़ दिए गए थे, किंतु किसी आर्य अथवा भारोपा भाषा मे इस शब्द में वर्ण विपर्यय नही है। अतः पक्का निदान निकला कि यह 'खन्' से नही निकल सकता। पाणिनि ने भी इसे 'न-ख' से निकाला है। वोपदेव में एक धातु 'नख् गत्याम्' मिलता है। इसका प्रयोजन यह है कि 'नख' का अर्थ 'बढते जाना' है। जिसकी निरन्तर गति होती है। नाखून जीवन भर सदा बढते रहते हैं। अतः यह धातु उसके लिए उचित ही है। हा, भारोपा भाषाओं का तुलनात्मक ज्ञान यह निश्चित रूप से बताता है कि 'खन्' से इसका कोई सम्बन्ध नही है। मेरी बडी भूल होगी यदि मैं 'नख' की व्युत्पत्ति 'खन' से निकालूंगा क्योंकि सभी भारोपा भाषाओं में 'नख' के जितने रूप मिलते हैं, उनमे से एक मे भी वर्णविपर्यय नही हुआ।

व्युत्पत्ति निश्चित करने में एक महत्वपूर्ण भाग उन भाषाओं का भाषा शास्त्रीय ज्ञान भी है, जिनके शब्द अपनी भाषा में ले लिए गए हैं। हिंदी में सस्कृत, प्राकृत, पाली, फारसी, अरबी, अंगरेजी, मलय, चीनी, फ्रेंच, डेनिश, पोर्तुगीज आदि शब्द आ गए है। अन्यथा व्युत्पत्ति मे भूलें होने की सम्भावना बढ जाती है। एक बार मैं भाषाशास्त्र के विद्वानों की गोष्ठी मे बैठा था। एक विद्वान ने बताया कि 'डोल'—कुएं से पानी निकालने का लोहे का गोल बरतन—सीधे अरबी से हिन्दी मे आया है। दो, तीन विद्वानों ने सहम कर निवेदन किया कि डोल सस्कृत से निकला-सा लगता है। इस पर व्युत्पत्ति शास्त्री विद्वान ने कहा—"मेरे पास घर मे पटना के डा० हक का पत्र पड़ा है जिसमे उन्होंने साधिकार प्रमाण दिए हैं कि डोल अरबी है। इस पर मैंने निवेदन किया कि अरबी वर्णमाला में 'डाल' अक्षर नहीं है। उर्दू 'डाल' भारत में 'ड' की पूर्ति के लिए अरबी वर्णमाला मे जोडा गया। इसलिए इसका नाम पड़ गया है-'हिंदी डाल' इस कारण से 'डोल' शब्द अरबी नही हो सकता। वास्तव में यह फारसी है और 'दुल' डोलना से बना है। यह 'दुल्' धातु संस्कृत और अवेस्ता की भाषा दोनो मे समान है। इस पर कोश देखे गए, तब सब विद्वानों को मेरे कथन की सत्यता प्रतीत हुई। फारसी का ज्ञान न होने से सब हिंदी कोशों मे बताया गया है कि 'डोल' संस्कृत 'दोल' से निकला है। ऐसी अशुद्धियां हिंदी कोशों मे बहुत हैं। हिंदी से संबंधित भाषाओं का ज्ञान न होने के कारण हिंदी 'परात' शब्द संस्कृत पात्र से निकला बताया

गया । 'परात' पोर्तुगीज 'प्रात' या 'प्रातो' 'रकाबी' है । अतः संबधित भाषाओ का भाषा शास्त्रीय ज्ञान और उनके कोशों का निरन्तर निरीक्षण हिंदी व्युत्पत्ति के लिए आवश्यक है । हमे सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई शब्द अपनी व्युत्पत्ति से बाहर का अर्थ व्यक्त नही करता । हिंदी आज राष्ट्र की भाषा है, उसके गौरव के अनुकूल कोश निकलने से ही हिंदी साहित्य और उसके संरक्षको की प्रतिष्ठा है । मराठी में मराठी व्युत्पत्ति कोश है । हिंदी मे व्युत्पत्ति कोश का क्या कहना । कोशों मे ही व्युत्पत्तियां ठीक नही की जा सकी हैं । कोश भाषा का आधार है योरप मे पीटर्सबुर्ग कोश ने संस्कृत की शोध का पथ खोल दिया । ऐसा कोश सरकारों की सहायता से साहित्य-सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा या विहार राष्ट्रभाषा परिषद ही निकाल सकते हैं ।

आर्य भारतीय भाषा-विज्ञान : तब और अब

घटना प्रायः दो सौ वर्ष पुरानी है। एक सैलानी अंगरेज नाना देशो का भ्रमण और अध्ययन करते हुए चीन की राजधानी पेकिंग पहुंचा। वहा एक सराय मे ठहरा और भोजन के समय आँगन के पास भोजनालय मे उपस्थित हुआ। उसने दाहिने हाथ की सब उंगलियों को एकत्र करके, मुँह खोलकर, तथा एकत्र अंगुलियां मुंह के पास बार बार ले जाकर भोजन की आवश्यकता बैरे को बतलाई। बैरा तुरन्त ताड़ गया कि इस विदेशी को भूख लगी है और यह भोजन माँग रहा है। वह जल्दी से जाकर एक प्लेट मे मास लाया। अगरेज ने प्लेट की ओर इशारा करके कहा—'क्वैक-क्वैक' ? चीनी बैरे ने उत्तर दिया,—'बौउ-बौउ'। क्वैक-क्वैक का अर्थ था 'क्या यह मुर्गी का मांस है ?' बैरे ने उत्तर दिया, 'नही, यह कुत्ते का मास है।' इस प्रकार चीनी बैरा और अंगरेज घुमक्कड एक दूसरे की भाषा नाम मात्र को न जानने पर भी एक दूसरे को पूर्णतया समझ गये। मनुष्य के आदिम काल मे बहुतों को यह इच्छा रही होगी कि हम घर घर मे एक दूसरे की भावना समझ जायं। मनुष्य सामाजिक जीव है। उसके जन्म-काल से ही वह परिवार में रहता था। कुछ ही समय मे समाज बन गया और परस्पर मे एक दूसरे को समझना अत्यन्त आवश्यक हो गया। मनुष्य इशारो से बातें करने लगा और विस्मयबोधक ध्वनिया सुख और दुख मे उसके मुख से अपने आप बाहर निकलने लगी। इन ध्वनियों का बडा महत्व है। हमारा ए-क इसी विस्मयबोधक 'ए' ध्वनि से निकला। कुछ ही समय मे यह विस्मयबोधक 'ए' सुख-दु.ख की ध्वनि मात्र न रह कर 'यह' के अर्थ का भी बोध कराने लगा। धीमे धीमे, एक पदार्थ को दिखाने के लिए असभ्य या अर्द्धसभ्य जन 'ए' कह कर एक पदार्थ दिखाने लगे, जिससे समाज का दूसरा

ध्वनित उस पदार्थ को देखकर यह अनुभव करने लगा कि अमुक पदार्थ से कहने वाले का कुछ प्रयोजन है और यह पदार्थ केवल एक है। अब तमाशा देखिए कि किसी तत्कालीन पुरुष को केवल ए स्वर का उच्चारण करने मे कुछ असुविधा सी मालूम हुई; उसने तुरन्त इस ए मे क—ध्वनि जोड़ दी। इस घटना का परिणाम वैदिक और संस्कृत का 'एक' शब्द है, जो प्रगति करता हुआ आज अनगिनत सख्या में शब्दो का तांता बाधने मे समर्थ हो चुका है। शब्द कई कारणो से बने हैं और उनका एकमात्र उद्देश्य समाज का कल्याण और उसकी प्रगति करना है। इस समय रूस के स्पुतनिक एक महिला द्वारा परिचालित होकर जो सत्रह मिनट मे हमारे जगत् की पूर्ण परिक्रमा कर चुके हैं वे भाषा के ही माहात्म्य हैं। इसका एक माहात्म्य पाठक ऊपर देख चुके हैं। अगरेज यात्री ने अनुकरणात्मक ध्वनि क्वैक-क्वैक से बैरे को समझाया कि क्या तुम मुर्गी का मास लाये ? बैरे ने ध्वनि से अँगरेज का अर्थ समझ लिया और उसे बताया कि यह उस पशु का मास है जो बोउ-बोउ करता हैं अर्थात् जो भूकता है, उसका मास तुम्हारे लिए लाया हूं। हमारी भाषाओ मे भी अनुकरणात्मक ध्वनि से बने शब्द मौजूद हैं। मुर्गी को स० मे भी कुक्कुट कहते हैं। हमारा कू कू–र भी ऐसा ही शब्द है। टि ट्टि–भ भी ऐसा ही है। गड़गड़ाहट आदि भी ध्वनि की नकल पर बने हैं। अगरेजी कुक्कू, फ्रैंच कू–कू, ग्रीक कोकुख, लैं० कुकुलुस, स्पैं० कुक्लिो, इटा० कुकुलो तथा जर्मन मे कुकुख और सस्कृत कोकिल ध्वनि के अनुकरण हैं।

मलाया के पक्षी काकातुआ का नाम भी ध्वनि का अनुकरण है। बोउ-बोउ को हम भौं-भौं कहते हैं। उक्त घटना से ध्वनिपरिवर्तन का एक कारण भी स्पष्ट हो जाता है। नाना जातियां एक ही ध्वनि को नाना रूपों मे सुनती हैं।

जब समाज मे क्रमशः भाषा का विकास होने लगा और एक विशेष समाज की भाषा की शब्द सपत्ति यथेष्ट बढ गई तो समाज भी सभ्य बन गया और उस समय कुछ विद्वान् भाषा को नियमो मे बाधने लगे। इस ओर मिस्र और खल्दी लोगों ने क्या किया, इसका ठीक पता नही। आर्य जाति ने भाषा की ओर ध्यान दिया और भारत के आर्यों ने बहुत सोच विचार कर लिखा–'भाष व्यक्तायाम् वाचि' अर्थात् भाष धातु का अर्थ है इस प्रकार

बोलना कि सुनने वाला आपकी बात स्पष्ट समझ जाय। इस कारण हम नियम बना सकते हैं कि जिस बात को हम पूर्णतया समझ चुके हों, उसका शब्द-चित्र श्रोता के मन में खींच देना भाषा का काम है। असत्य चित्र खींचना भाषा मे गडबड़ी कर देना है और भाषा को पंगु बना देना है। अस्पष्ट वाणी द्वारा भाषा हमारे मस्तिष्क को मूक कर देती है। तुलसी के भगवान् मूक को वाचाल बना देते हैं और पंगु को कैलाश पर्वत पर चढा देते हैं; किंतु सरस्वती देवी वाणी की अशुद्धता को क्षमा नही करती। मनु ने ठीक ही कहा है वाच्यर्था नियता:सर्वे······तस्मात् यस्तेनयेद् वाचम्। स सर्वस्तेय किन्नर:' ॥ वाणी का एक काम मनु के अनुसार असत्य न बोलना भी है, क्योंकि जो वाणी की चोरी करता है वह सब पदार्थों की चोरी कर सकता है। योरप में सत्य का महान् माहात्म्य है। मेरा अपना अनुभव है कि वहा असत्यभाषी कम मिलते हैं। क्या भाषा, क्या लिपि दोनो द्वारा समाज-कल्याण का मार्ग दिखाया जाता है। ज्ञान विज्ञान में तो वहा असत्य का नाम भी नही रहता। इस कारण ही वहा के नाना राष्ट्रो के समाज प्रगति की चोटी पर पहुच चुके हैं। भारत मे ज्ञान-विज्ञान की विशेष उन्नति नही है, और न समाज ही कल्याण की ओर जा रहा है। कालिदास के शब्दों में यही कहा जा सकता है—

'शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ'

शायर ने ठीक ही कहा है—

हम वहां हैं जहां से हमको भी—
कुछ हमारी खबर नहीं आती।

यह तथ्य मैंने हिन्दी में भाषा विज्ञान की कुछ पुस्तकें पढ़कर लिखा है। भाषा समाज कल्याण की बुनियाद है। यह बात सारे संसार के विद्वान् एक मत से मानते हैं। पाश्चात्य देशो की सभी भाषाओं में क्या साहित्यिक और क्या वैज्ञानिक, इस प्रयत्न में लगे रहते हैं कि उनके हृदय का सत्य और वैज्ञानिक शोध से प्राप्त तथ्य अपने सच्चे रूप में पाठकों के हृदय और मस्तिष्क में चित्रित हो जाय। ब्लूमफील्ड साहब की अमूल्य पुस्तक Language तथा जेस्पर्सन साहब की उसी नाम की पुस्तक सरल और सरस भाषा में अपने सिद्धान्त पाठकों तक पहुंचाती हैं। बोप, बेनफे, ब्रुगमान, कुर्टिउस, पिसल, वाकरनागल आदि महापंडितों ने आर्य भाषाओं को मथकर अपनी अनमोल शोध से भाषा विज्ञान की जड़ जमा दी।

किसी अति प्राचीन काल मे भारत ने भी भाषा के सत्य के शोधक पैदा किये जिन्होंने भाष शब्द का ऊपर बताया हुआ अर्थ ससार के सामने रक्खा। साढे तीन सौ साल पहिले तक योरप के विद्वानो का भ्रमपूर्ण विश्वास था कि इबरानी भाषा परमात्मा की भाषा है। इस कारण संसार की सब भाषायें इसी एक भाषा से निकली होगी। सबसे पहले पादडी हरवास ने संसार की पचासो भाषाओं का अध्ययन करके सबका ध्यान इस ओर खींचा कि ग्रीक शब्द एस्ति, एस्मि आदि और लैटिन शब्द एस्त, एस्मि आदि सस्कृत के अस्ति, अस्मि आदि रूपों में ध्वनि विकार है। पक्का प्रमाण तो सर विलियम जोन्स ने सुझाया, और जर्मन विद्वान् श्लेगिल ने १८०८ ई० में अपना ग्रंथ Weisheit der brahmanen अर्थात् 'ब्राह्मणो की बुद्धिमत्ता' नामक ग्रंथ प्रकाशित कर आर्य भाषाओ का तुलनात्मक चित्र सबके सामने रक्खा फिर बौप ने सिद्ध कर दिया कि आर्य भाषाओं के शब्दो और व्याकरणों के रूपो में बहुत ही समानता है। वाकरनागल ने तो कई स्थानो पर पाणिनि का भी सशोधन किया है। शाकल्य, यास्काचार्य, शाकटायन आदि ने ही हजारो वर्ष पहले भाषा विज्ञान की नीव डाली। शब्द नाना प्रकार से बनते हैं। किंतु शाकटायन का वाक्य है--

'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि'। अर्थात् सब सस्कृत शब्द आ-ख्या-तों से जन्म लेते है। आख्यात का अर्थ है शब्द का वह अग जिससे शब्द की ख्याति होती है अर्थात् जिससे शब्द का अर्थ स्पष्ट होता है, जैसे स्थान, मान आदि शब्दों में स्था, मा से अर्थ खुलता है; एक में ए से। ये आख्यात धातु, नाम धातु, बीजाक्षर, अनुकरणात्मक ध्वनि आदि कई प्रकार के होते हैं। यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि भारतीय आर्य भाषाओ के शब्दो मे यह आख्यात या शब्दो का अर्थ खोलने वाला अग शब्द का मूल अर्थ जानने को ढूंढना पडता है। भारत में सदा भाषा की जांच पड़ताल होती रही है। स्वय वेदो की भाषा मे शब्दों के दुरुपयोग के कारण कौत्स ऋषि ने वैदिक ऋषियों को विशेष विद्वान् नही बताया। वेदवाद-रतों ने उनकी बडी निंदा की और इस निन्दा का इतना अधिक प्रचार हुआ कि यास्काचार्य को कौत्स ऋषि को वेद की भाषा-निन्दा करने का उत्तर देने के लिये निरुक्त तथा निघण्टु प्रकाशित करने पड़े। पाठकों को मालूम ही होगा कि शब्दो की व्युत्पत्ति का ससार भर मे सबसे पहला ग्रन्थ निरुक्त है। असल बात यह है कि भाषा-विज्ञान की

उत्पत्ति भारत मे हुई। ऋग्वेद मे लिखा है कि वैदिक कालीन विद्वान् सभाओं मे जाकर शब्दो की शुद्धता के विषय पर स्पर्द्धा करते थे। इस कारण हमारी छाती फूलनी चाहिये कि अति सुदूर प्राचीन समय मे भारतीय आर्य-भाषा-भाषियो ने भाषा-विज्ञान को जन्म दिया और हमे उनके वंशज होने के नाते इस विज्ञान में कड़ा परिश्रम करके महापंडित बनना चाहिए।

इधर मैंने हिन्दी मे भाषा विज्ञान की पुस्तको का अध्ययन किया। डाक्टर भोलानाथ तिवारी आदि विद्वानों की पुस्तकें पढ़ी, पर दुःख हुआ कि हाथ कुछ न लगा। मैं वृद्ध हो गया हूं सो अपनी मुझे कोई चिंता नही है। खेद इस बात का हुआ कि कौत्स, यास्काचार्य, शाकटायन और पाणिनि के वशज अपनी भाषा के विषय मे भ्रमपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। कितने आश्चर्य का विषय है कि भाषा विज्ञान पर ग्रन्थ लिखने वाले विद्वान् भाषा का रूप ही नही जानते। एक विद्वान् ने कृतः से किया की उत्पत्ति बताई है। कृतः कृ धातु का रूप है, कृता इसका दूसरा रूप है और कृतम् तीसरा, इसलिए भाषा वैज्ञानिक इसके चौथे और मूल रूप कृत्त मे किअ बनाते हैं; इसमें विसर्ग आ आदि कुछ नही जोडते। पाइअ-सद्-महण्णवो में दिया गया है—'किअ देखो कय=कृत' (पेज ३०४)। उक्त विद्वान् ने ध्वनि-विचार के एक स्थान पर लिखा है निज़्द=नीड़। इस ध्वनि विकार के नाना कारणो को समझाने में लेखक ने यह नही बताया कि निज़्द किस भाषा का शब्द है और नीड़ किस भाषा का? भाषा विज्ञान पर ग्रंथ लिखने वाले विद्वान् ऐसी भूल नहीं किया करते। वे स्पष्ट बतला देते हैं कि कौन शब्द किस भाषा का है और किस ग्रन्थ में किस स्थान पर मिला है। सचमुच में, निज़्द अवेस्ता के समय का ईरानी शब्द है। इससे फारसी का नजदीक 'निकट' बना है। निज़्द का सस्कृत रूप निषद 'निकट बैठा हुआ' है। इस शब्द का प्रतिरूप अंगरेजी मे 'नैस्ट' nest 'घोसला' और 'नैक्स्ट' next भी निज़्द का ही एक रूप है। प्रतीत होता है कि वैदिक और संस्कृत मे इसका एक रूप निक्षत भी रहा होगा। निक्षत शब्द तो न मालूम कब का लुप्त हो गया। इस शब्द का क्षि धातु से संबंध रहा होगा, जिसका अर्थ है निवास करना, बसना, रहना। हमारा क्षिति और क्षत्री शब्द भी इसी क्षि 'वसना' और 'राज करना' से निकले हैं। वास्तव में ये संस्कृत नि-षद के रूप हैं जिसके अर्थ हैं 'निकट बैठना', 'नीचे बैठना'। उप-निषद शब्द में यह अर्थ स्पष्ट

हो जाता है। हमारा शब्द 'बैठना' आदि-आर्य भाषा में सेद् था। ध्वनि परिवर्तन की महिमा देखिये कि वैदिक और संस्कृत में यह शब्द् निषद और सियाद में मूर्धन्य हो गया है। वैदिक और संस्कृत काल में भी सदा और सब देशों की भाषाओं की भांति प्राकृतीकरण चलता रहा। स्वयं वेदों में प्रकृत 'आगे किया हुआ' का प्राकृत रूप प्रकट भी चलने लगा। एक और शब्द लीजिए। बरसात का एक महीना 'श्रावण' कहलाता है। अधिकांश विद्वान् लोग बताते हैं कि यह शब्द श्रवण 'कान' से संबंध रखता है श्रवण नक्षत्र भी कान से ही संबंध रखता है। इसी कारण बरसात के महीनों में कानों को पवित्र करने के लिए रामायण, महाभारत, भागवत आदि पवित्र ग्रन्थों को सुनकर धर्म-प्राण जनता अपने श्रवणों को पवित्र करती है। वास्तव में ऐसा नहीं है। श्रवण संस्कृत शब्द स्रवण 'बरसना, चूना' का विकृत रूप है और स्वयं यह वेदों में ग्रहण किया गया है। इसी कारण निसद का निषद बन गया। अवेस्ता के व्याकरण का एक नियम था क्ष=क्ष अक्षर का परिवर्तन श और ज में हो जाता था। इसलिये निज़्द में निक्षत्त रूप का परिवर्तन निज़्द रूप में हो गया। निक्षत का एक अर्थ निकट रहना भी था। कुमाऊं में जितने पुराने मकान शेष रह गये हैं उनमें छत के नीचे की वल्ली में चिड़ियों के लिये घोसले बनाये जाते थे; क्योंकि हिंदू धर्म का महान सिद्धान्त है—अशरण को शरण देना, असहाय को सहायता देना। पुराने मकानों में इन घोसलों की कतार आज भी देखी जा सकती है। इसलिए चिड़ियों के घोसलों का एक नाम कभी निषद भी रहा होगा। निषद का ष उच्चारण यजुर्वेद के समय से 'ख' भी हो गया था। यजुर्वेदी षडंग को खडंग कहते हैं। इस कारण निषद् (निखद) शायद नीड़ भी कहा जाने लगा हो। आर्य भाषाओं में नीड़ स्वतंत्र शब्द भी मालूम पड़ता है। लैटिन में nidus शब्द घोसले के लिए है। फ्रेंच में घोसले को nid (निद) कहते हैं। आइरिश और गेलिश में नीड़ को nead (नीड) कहते हैं। वेल्श भाषा में घोसले को nyth (निथ) कहते हैं। इस कारण सदेह होने लगता है कि कहीं नीड एक स्वतंत्र शब्द न हो। इसलिये विद्वान् लेखक ने निज़्द=नीड़ बताकर अपने छात्रों का भ्रम बढ़ाया; घटाया नहीं। गुरु की तो महिमा है कि वह अज्ञान-रूपी अन्धकार को ज्ञान के अंजन से दूर भगा दे, न कि अपने छात्र को अज्ञान के महासागर में डुबा दे। एक और उदाहरण लीजिये। डाक्टर तिवारी ने हमको बताया है—"कोट्टपाल=कोट्टाल=कोतवाल मिलता है, पर ऐसे

उदाहरण अन्य नही मिलते । अत: इसे अपवाद कहा जाता है" (पेज २१४)। ऊपर लिखा कोट्टपाल शब्द वास्तुविद्या नामक एक ग्रंथ में ही मिलता है जिसका उल्लेख मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत अंगरेजी कोष में किया है । अमर कोष में भी कोट शब्द मिलता है किन्तु हेमचंद्र सूरि ने अपने देशी नाम माला नामक देशी शब्दों में कोट्टनगर दिया है। इसके सम्पादक पिशल और रामानुज स्वामी ने अपने नोटों में बताया है कि यह कोट्ट शब्द द्रविड़ भाषाओं से आया है । प्राचीन संस्कृत में यह शब्द मिलता ही नही । देशी प्राकृत का यह कि शब्द दो तीन ग्रंथो में मिलता है जो बारहवी सदी के आस-पास बने थे। कोट्टपाल शब्द का प्राकृत कोट्टाल नहीं होता; क्योंकि प्राकृत का नियम यह है किसी शब्द के भीतर संस्कृत में प आने से उसका प्राकृत प्रतिरूप व हो जाता है । हम जानते ही हैं कि प्राचीन हिंदी में नरवइ, गढ़वइ आदि शब्द नरपति, गढ़पति आदि से निकले हैं । प्राकृत में संस्कृत पाल का भी प्रतिरूप वाल होता है । तुलसी ने जो भूपाल के लिए भुआला लिखा है वह भी प्राकृत भूवाल का प्रतिरूप है । अत: कोट्टपाल का प्राकृत प्रतिरूप कोट्टाल नही हो सकता; वह कोट्टवाल होना चाहिये और था । इस कोट्टवाल का हिन्दी रूप कोतवाल हो गया है । महान् दुर्भाग्य का विषय यह है कि हिंदी के भाषा वैज्ञानिक मध्य भारतीय भाषाओ से अपरिचित हैं ।

और सुनिए । अंत-व्यंजन-लोप के उदाहरण में विद्वान् लेखक ने एक उदाहरण दिया है—सत्य सत, इसमें यह विचार करना है कि त्य का प्राकृत रूप च्च होता है । यह बहुत पुराना नियम है । प्राकृत भाषाओं में ९५ प्रति सैकड़ा शब्दों में सत्य का रूप सच्च होगा । इसी प्रकार प्राकृत भाषाओं में सं० भृत्य का भिच्च होता है, मृत्यु का प्रतिरूप मिच्चु, प्रा० हि० मीच; नृत्य का नाच्च(णच्च) होता है । इसका अपवाद है आदित्यवार जिसका प्राकृत रूप कोषकारो और वैयाकरणो ने आइच्चवार दिया है; किंतु हम देखते हैं कि मारवाड़ी राजस्थानी में इसका रूप दीतवार है और स्वयं हिंदी में हम इसे इतवार कहते हैं । ऐसे अपवाद प्राकृत में कुछ मिलते ही हैं । डाक्टर साहब ने उपर्युक्त कोट्टपाल>कोट्टाल>कोतवाल को भी अपवाद ही बताया है जो रूप प्राकृत में मिलते ही हैं । प्राकृत भाषा के व्याकरण की उपेक्षा का यह परिणाम मालूम होता है । प्राकृत में दो-तीन स्थानो में सत्य के लिय सत्

शब्द भी आया है, पर इसका प्रयोग प्रायः नहीं के बराबर होता है। एक अन्य स्थान पर विद्वान् भाषा वैज्ञानिक ने लिखा है सत्य=सच। हमें यह जानना चाहिए कि हमारे हिंदी शब्द जो तत्सम हैं वे ही संस्कृत हैं और तद्भव शब्द अर्द्ध मागधी, पाली नाना प्राकृतों और प्राचीन हिंदी के भीतर से छन-छन कर आये हैं, और ये सब विशेष-विशेष नियमों के अनुसार। यदि आज शब्द वैयाकरणों के अनुसार मूल रूप में अद्यवि न होता तो अद्य कहां से आता ? इस अद्य का मध्य भारतीय भाषाओं में अज्ज हो गया। वह अज्ज प्रायः दो ढाई सौ वर्षों से 'आज' रूप में हमारे सामने प्रस्तुत है। इसी प्रकार सत्य का हमारे सामने जो सच रूप आया है, वह संस्कृत सत्य से सीधा नहीं आया। वह मध्य भारतीय भाषाओं से छन कर हिन्दी में सच बन गया है। इन उदाहरणों में एक बड़ी भारी कमी यह है कि शायद ही कहीं बतलाया गया हो कि कौन शब्द अपने वास्तविक रूप में किस भाषा के किस ग्रंथ में पाया जाता है। बिना इसका उल्लेख किए कैसे जाना जाय कि यह रूप वास्तव में कहीं मिलता है या नहीं ? हमारे छात्रों को बताया जा रहा है कि सवा शब्द संस्कृत से आया है और संस्कृत में उसका रूप सपादिक है। भाषा विज्ञान में शब्दों की व्युत्पत्ति बताते समय उनकी मात्राओं का भी बहुत ध्यान रखना पड़ता है। देखिये—सपादिक शब्द प्राकृत में किसी प्रकार सवा नहीं बन सकता। उसका प्राकृत रूप नियमानुसार सवाइअ बनेगा, और इस सवाइअ का हिंदी रूप सवाई होगा। हम जानते ही हैं कि विशेष बुद्धि होने के कारण जयपुर के राजाओं को 'सवाई महाराजा' की उपाधि दी गई सवा शब्द तो संस्कृत स-पाद से निकला है। इसका प्राकृत रूप स-वआ होगा। हिंदी में हम इसे सवा कहते हैं। स-पाद का अर्थ है एक से चौथाई अधिक, अर्थात् चार चरणों मे से एक चरण अधिक; सवा=$1+\frac{1}{4}=1\frac{1}{4}$। कहां भाषा विज्ञान, वैज्ञानिक रूप से भाषा और शब्दों के ठीक-ठीक नियम निर्धारित करता है और कहां हम सपादिक=सवाई का विकृत रूप सवा बताकर उसकी सूरत ही बिगाड़ दे रहे हैं।

और लीजिए। यज्ञोपवीत से जनेऊ निकाला गया है; किन्तु विचार करने की बात है कि यज्ञोपवीत कैसे जनेऊ बन गया। इसके विषय में छात्रों का मस्तिष्क क्या समाधान करेगा ? पाठक सोचें कि यज्ञोपवीत के ऊपर

जादू का कौन सा मन्त्र फूंका गया जिससे वह एकदम दुबला पतला होकर दीन हीन जनेऊ बन गया! सरलता से शब्दों को कलम नहीं किया जा सकता। यह बात कोई कैसे समझ सकता है कि यज्ञोपवीत से सीधे जनेऊ हो गया होगा। अब जनेऊ का क्रम देखिए : संस्कृत में उसका नाम यज्ञोपवीत इसलिये रखा गया कि जनेऊ यज्ञ के साथ बुनकर उपनयन के समय गले मे डाला जाता था। इसके अक्षर घिसकर प्राकृत मे इसका रूप जण्णोवई तथा जण्णोववीय हो गया। मुखसुख अथवा मुख के आलस्य के कारण भारतीय जनता ने उक्त रूपों की भी काट छांट करके इसे और भी छोटा रूप जनेऊ दे दिया। पर्यंकग्रंथि=पलत्थी भी बहुत अशुद्ध है। प्राकृत पलहत्थी सं० पर्यस्ति का विकृत रूप है। विज्ञप्तिका=वित्ती भी नियम विरुद्ध है। वास्तव में विज्ञप्तिका सं० मे कोई शब्द ही नहीं है। पा० स० म० मे दिया गया है—"विण्णात्ति स्त्री (विज्ञप्ति) १: निवेदन प्रार्थना (कुमा) २, ज्ञान, (सूअ १, १२, १७)" ऐसी ही कितनी बातें कही जा सकती हैं, किंतु लेख का कलेवर बढ़ाना अभीष्ट नहीं है।

ये सब बातें लिखकर मेरा उद्देश्य हिंदी के भाषा विज्ञान के लेखकों के प्रति तिरस्कार या निरादर का भाव प्रकट करना नहीं है; क्योंकि मैं भली-भांति जानता हूं कि स्वय मेरा इन विषयो का ज्ञान बहुत ही छिछला है। किंतु ग्रंथों की अशुद्धिया लाखो भाषा-भाषियों को भ्रम में डाल सकती हैं। योरप के देशों मे वहा के विद्वान् ग्रन्थो की एक अशुद्धि भी सहन नही कर सकते। महान् से महान् विद्वान् को भी उसकी कोई अशुद्धि हो तो तुरंत दिखला दी जाती है। मुझे स्मरण है कि जब मैंने हिंदी के महान् विद्वान डाक्टर बुल्के साहब को बताया कि पदमावत के संजीवनी भाष्य मे कई अशुद्धियां हैं तो उन्होंने तुरन्त कहा कि यदि आप इन भूलो का संशोधन प्रकाशित न कराओगे तो महान् पाप के भागी बनोगे। ज्ञान को पवित्र रखना और उसकी अशुद्धता और अन्य त्रुटिया जगत् के सामने रखना महान पुण्य है। धन्य हैं पिशल साहब जिन्होंने अपने लिखे **प्राकृत भाषाओं के** व्याकरण के संबध मे जर्मन विद्वानो ने जो त्रुटियां उन्हें सुझाई, उनमें अधिकांश उन्होंने स्वीकार कर ली। विद्वानो का यही धर्म है। मैं तो विवश होकर ही अपने हिन्दी के विद्वान मित्रो की कुछ त्रुटिया दिखाता हूं, और इस बात के लिए सदा तैयार रहता हू कि हिंदी के विद्वान लेखक मेरे तथ्यों मे भूलें

दिखलाएं तो सहर्ष उनके चरणो में माथा टेकू । मेरे लिए सब हिंदी के लेखक महान हैं । मैं उनका तुच्छातितुच्छ दास हूं । सो कर्तव्यवश बिना किसी द्वेष के सत्य प्रकट करना अपना धर्म समझता हूं । मैं अपनी क्षुद्रता भी जानता हूं । सच है :—

'ऐ जौक ! किसको चश्मे-हिकारत से देखिये
सब हमसे हैं ज़ियादा, कोई हमसे कम नहीं !'

भारोपा भाषायें और भारत

सत्य के अनुसधान ने पश्चिमी जातियो को आगे बढाया है। ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र मे सत्य, निरे सत्य की खोज अति आवश्यक है। भाषा के क्षेत्र मे भी विशुद्ध सत्य की जय होती है। सस्कृत का अध्ययन भारत मे वैदिक काल से है। किंतु पाणिनि ने जो व्याकरण बनाया, आज प्रायः अढ़ाई हजार वर्ष से हम उसे ही घोख रहे हैं; उससे एक इंच भी आगे नही बढ़े। ज्ञान के क्षेत्र मे यह एक ही स्थान मे जडवत् अचल हो जाने की प्रवृत्ति महान् अनिष्टकर है। किसी व्यक्ति या समष्टि की उन्नति के लिए ऐसी प्रवृत्ति घातक सिद्ध होती है। किसी ज्ञान विशेष को नयी-नयी शोध से सदा आगे बढाना ही उसमें प्राण का संचार करना है। नाना ऐतिहासिक कारणों से, भारत में, हमारी संस्कृति की प्रगति के मार्ग मे, नाना रुकावटें आयी और इस कारण ज्ञान-विज्ञान की उन्नति का मार्ग रुक गया।

सौभाग्य का विषय है कि अठारहवी सदी के अत मे अग्रेजों को संस्कृत में रस मिला। उन्होने राजनीतिक कारणों से संस्कृत सीखी; किंतु वे तुरन्त इस भाषा का महत्व ताड़ गये। बगाल एशियाटिक सोसायटी का उद्घाटन करते हुए सर विलियम जोन्स ने १७९४ मे कहा था: 'संस्कृत भाषा की प्राचीनता चाहे जितनी हो, इसकी बनावट आश्चर्यजनक है; यह यूनानी भाषा से भी भरीपूरी है और लैटिन से सपन्न, साथ ही यह दोनो से बहुत बढ़िया और सुसस्कृत है। मजे की बात यह है कि उक्त दोनों भाषाओं से इसकी बहुत अधिक समानता है; इसके धातु तथा व्याकरण के रूप भी उनके समान ही हैं।' इतना मेल संयोगवश नही हो सकता। कोई भाषा-शास्त्रज्ञ यदि इन तीन भाषाओं को तनिक भी ध्यान से देखेगा तो उसे विश्वास हो जायगा कि ये तीनों एक ही मूल-स्रोत से निकली हैं, जिसका अस्तित्व संभवतः अब नहीं रह-

गया है। ऐसा ही एक कारण है, यद्यपि इतने जोर का नही, जिससे मालूम होता है कि गौथिक और केल्टिक का मूल स्रोत भी वही है जो संस्कृत का। इन भाषाओ के साथ फारसी भी एक ही परिवार मे सम्मिलित की जा सकती है। सर विलियम जोन्स कम उम्र मे ही अकाल मृत्यु के शिकार हो गये। वे इस क्षेत्र मे कुछ काम न कर पाये।

यह बीज जर्मन भूमि मे भी पडा। वहां यह इतना पनपा कि इसने भारत से लेकर आयर्लैण्ड तक की आर्य भाषाओ मे क्रांति ला दी। मैक्समूलर ने सच कहा है—'संस्कृत का आविष्कार अठारहवी सदी का सबसे बडा आविष्कार है।' इस एक आविष्कार ने वैज्ञानिक भाषा-शास्त्र की नीव डाली। मूल 'भारोपा भाषा' के अधिकाश रूप संस्कृत मे ही अविकल रूप मे सुरक्षित हैं। किन्तु यह न समझना चाहिए कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में ये रूप पूर्ण रूप से प्राप्त हैं। ऋग्वेद मे **विकृत** का एक रूप विकट हो गया था। मूल शब्द **द्विशति** था जो द्वि से बना। द्विशति का वैदिक काल मे ही **विशति** हो गया। आत्मन् और त्मन् दोनो रूप चलने लगे। यह ध्वनि परिवर्तन का नियम यद्यपि प्राचीन आर्य-भाषाओ मे सदा चलता रहा, किन्तु वैदिक और संस्कृत शब्दो के अधिकाश रूप अधिक नही घिसे।

अब देखिए कि अंग्रेजी मे **ट्वेण्टी** (twenty) और जर्मन मे **त्स्वान्त्सिग** (zwanzig) इसके प्रमाण है कि कभी मूल भारोपा भाषा मे यह **द्विशति** रहा होगा। गौथिक मे इसका रूप **ट्वइटिग्युस्** था। इसमे भी **द ट** के रूप मे रह गया है। पुरानी-जर्मन मे बीस को **त्स्वाइन्त्सुग** कहते थे। ऐंग्लो सैक्सन मे **ट्वेनटिग** (twentig) रूप था। रूसी भाषा मे भी द्वि रह गया है। उसमें बीस को **द्विदेशित** अर्थात् **द्विदशा (ति)** कहते हैं। इससे मालूम हुआ कि यूरोपियन आर्य भाषाओ मे कई रूप भारतीय प्राचीन आर्य भाषाओं से पुराने वर्तमान हैं। कई संस्कृत शब्दो के अर्थ और उनकी व्युत्पत्ति भी बिना भारोपा भाषाओ के अध्ययन के नही जानी जाती। **विधवा** शब्द की व्युत्पत्ति हम **वि-धव** से निकालते हैं। यह इस कारण अशुद्ध हो जाती है कि ऋग्वेद मे **विधवा** शब्द है किन्तु **धव** 'पति' उसमे नही मिलता। भारोपा भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर विद्वानों को ज्ञात हुआ कि **विधवा** की उत्पत्ति लैटिन **विद्** या **स॰विध्** धातु से है। लैटिन मे **विधवा** के लिये **उइदुअ**=**विदुअ** शब्द है। इसमे **विद्** धातु है जिसका अर्थ 'अलग करना, भाग करना' है।

अंग्रेजी शब्द डि-वाइड 'भाग देना' लैटिन से आया है। इसका अर्थ है 'डि' 'दो (सं० द्वि०)' और वाइड 'भाग करो।' हम जानते ही हैं कि भाग देने में किसी दी हुई संख्या के दो भाग किये जाते है। इसके साथ-साथ ऋग्वेद में विध् धातु का एक अर्थ है 'अकेला होना, अलग होना।' इससे विधवा या विधुर शब्द निकले हैं। चन्द्रमा का नाम विधु इसलिये पड़ा कि वह अकेला प्रकाश देता है, एकश्चन्द्रस्तमोहंति कहा ही है। इतने ही से पाठक भारोपा भाषाओं का महत्व जान जायेंगे।

भुवन् वैं० और स० मे और भवन के अर्थ 'लोक और घर' है। इनमें धातु है भू सत्तायाम्, जिसका अर्थ है 'होना, अस्तित्व होना'। किन्तु इस अर्थ से उक्त दो शब्दों की व्युत्पत्ति नहीं खुलती है। जर्मन मे एक धातु बौअन् है। इसका एक अर्थ है 'निर्माण करना, भवन बनाना।' जर्मन मे बौ 'इमारत' के लिए भी आता है। गे-बौ-डे में गे उपसर्ग है, बौ का अर्थ 'मकान या घर' है और डे प्रत्यय है तथा पूरे शब्द का अर्थ 'निर्मित अर्थात् भवन' है। जर्मन में बौअर 'किसान' है क्योंकि वह खेत और अपनी कुटी का निर्माण करता है। अंग्रेजी ने-बर जर्मन नाख-बार का अर्थ है, 'नहुप अर्थात् निकट रहने वाला, पड़ोसी।' अग० रूप बी और जर्मन बिन का अर्थ 'होना' है। इससे यह प्रमाण मिलता है कि कभी,—स्वयं पाणिनि से पहले—भू धातु का एक अर्थ 'निर्माण करना, बनाना' भी रहा होगा जो भारत के आर्यों मे लुप्त हो गया और यूरोप की कुछ भारोपा भाषाएं बोलने वाली जातियों मे रह गया। आइसलैंड मे ब्यू का अर्थ 'बनाना, निवास करना' है। इसका एक अर्थ 'नगर' भी है जो अंग्रेजी बाइ (bye) मे रह गया है। हमारी म्युनिसिपैलिटिया बाइ-लॉ अर्थात् 'नगर के नियम' बनाती है। यह बाइ नोरवेजियन तथा आइसलैंड की भाषा के by (ब्यू) से निकला है। यह बौ (-अन) और ब्यू, भू धातु के ध्वनि परिवर्तन के नियमों के अनुसार बने रूप हैं। बौ (-अन) हमारे भवन और भुवन के अर्थ और व्युत्पत्ति का निर्देश करता है। फारसी बू (-दन्) भू (होना), का सगा भाई है। फारसी मे वैं० भूम का रूप बूम है। इसका दूसरा रूप भूमन 'बहुतायत, समृद्धि' है। इसमे भी धातु भू ही है। किन्तु यहाँ भू का अर्थ समृद्ध होना 'पनपना' है। इन दोनों शब्दों में ध्वनिबल का भेद है। 'भू' 'पृथ्वी' है और भूमन् का अर्थ है 'बहुत होना, पूर्णता, समृद्धि।' इस भू से एक दूसरा शब्द भूति भी बना है। इसका अर्थ है समृद्ध दशा। हिन्दी मे भूति,

विभूति इसी के रूप है। इसका प्रतिरूप ग्रीक मे फु-सि-स् है किन्तु अर्थ मे भिन्नता आ गयी है वहां अर्थ है 'प्रकृति' लियु० बुति और रूसी बुति का अर्थ 'होना' है। भारोपा भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन से एक और भेद खुला है कि वै० और सं० मे एक धातु मर् का लोप हो गया है जिसका अर्थ 'चमकना' था। वै० ऋग्वेद मे एक शब्द मर्य है जिसका पाली रूप मरिश है। इसके अर्थ हैं 'जवान; शुभ्र; अलकृत; पति; प्रेमी; नवल।' यह उक्त मर् से बना है। इस मर् से निकले अन्य रूप मरीचि सूर्य की (चमकती) किरणें और मरीचिका 'मरुस्थल मे (अति चमक के कारण) बालू मे जल का आभास' है। यह धातु अन्य भारोपा भाषाओ मे भी है. क्योकि यह मूल आर्य भाषा मे रही होगी। ग्री० मे मर-मइरो 'चमकना' है तथा मर्मरौस का अर्थ है 'चमकदार और 'संगमर्मर'। स्वयं सगमर्मर, प्रा० फा० का शब्द है जो वै० और स० की अन्य सब भारोपा भाषाओं से मिलती है। स० मे मर्मर केवल ध्वनि के लिए रह गया है। लै० मे मार्मोर 'सगमर्मर या चमकता हुआ पत्थर' है; मेरस् का अर्थ है 'शुभ्र' स्वच्छ।' यूरोप की सभी भारोपा भाषाओं मे इसके नाना रूप चलते है। फ्रे० मे सगमर्मर को मार्ब्रयाँ और मार्म्वार कहते है। स्पेनिश मे मार्मोल, इटालियन मे मार्मो, अंग्रेजी में मार्बल, जरमन मे मार्मोर कहते हैं। इसका एक चमत्कार यह देखिये कि अं० मौर्निग और मौरो, 'प्रभात तथा कल का प्रभात' एव जर० मौगन 'प्रभात तथा कल का प्रभात' इसी मर 'चमकना' के रूप है। मिलाइये स० प्रभात जो प्र-भात 'पहली चमक वा आलोक' हैं। इतना ही क्यो ? पाठको को यह सुन कर आश्चर्य होगा कि अंग्रेजी, जर्मन, रूसी आदि भाषायें हिन्दी की अपेक्षा *संस्कृत के निकटतर हैं। हिन्दी वाक्य 'वह राम का लडका या बेटा है', अंग्रेजी* वाक्य He is Rama's son के मुकाबले के संस्कृत अथवा मूल आर्य भाषा से दूर है। हिन्दी वाक्य मे 'राम' के अतिरिक्त अन्य शब्द संस्कृत से दूर हैं। अग्रेजी मे is अस् धातु का एक रूप है। जर्मन मे यह ist, लैटिन मे est है, जो स्पष्ट ही अस्ति की या ददिलाता है और उसका ही परिवर्तित रूप है। Rama's मे s, षष्ठी एकवचन की विभक्ति स्य का भग्नावशेष है। प्राकृत मे, विशेष करके शिलालेखो की प्राकृत मे, षष्ठी का रूप स् है। His मे तो ज=स है वह षष्ठी का ही रूप है। come गम् का रूप है। Mind मे मन काम कर रहा है और man मे मनु बैठे हैं। यही हाल जर्मन Mensch का है जिसमें मनुष्य का विकृत रूप प्रकट है। गौथिक मे स्वाविष्ट का sutst

(सुस्त) है जिसमें स्त सं० इष्ठ अवेस्ता के श्त का एक रूप है। अंग्रेजी star संस्कृत तारका से संबंध नहीं रखता यह वैदिक स्तृ से सम्बन्धित है। ऋग्वेद मे स्तृ सितारे' के लिये आया है। अवेस्ता में सितारे के लिये स्तर शब्द है। फारसी में इसका रूप सितारा हो गया है। यह शब्द यूनानी में ऐस्टर् है, लैटिन मे stella stern तथा जर्मन में stern है। संस्कृत में इसके आरम्भ का स् घिस गया है। यह आरंभिक स् स्पश् धातु मे घिसकर पश् बन गया, जिसके पश्यति आदि रूप होते हैं। यह स् स्पष्ट में स्पष्ट ही रह गया है। स्पश् धातु का वेद में एक अर्थ 'चर, जासूस' भी है, अंग्रेजी में spy में यह स् रह गया है, घिसा नहीं, आदि आदि। इससे सिद्ध होगा कि अंग्रेजी आदि भारोपा भाषाएं वैदिक संस्कृत के बहुत पास हैं। यह भी गौरव का ही विषय है। सौभाग्य का विषय है कि योरप के पंडितों ने मूल भारोपा भाषा के अनुसधान मे वैदिक और सस्कृत के शब्दों के ज्ञान को भी सुसंस्कृत किया है।

पारिभाषिक शब्द और हिन्दी जनत

लेखक ने एक सरकारी रिपोर्ट मे 'प्रणोदक वरीवर्त यंत्र' शब्द पढ़े
इस रिपोर्ट में प्रायः सैकडों शब्द ऐसे थे जिनको समझना किसी हिन्दी वि
के लिए असम्भव है। हिन्दी के एक विद्वान लेखक मित्र ने यह रिपोर्ट लेखक
दी थी कि उसे पढ कर कठिन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ उन्हें समझाये लेख
ने बार-बार रिपोर्ट पढी जिससे समझा जा सके कि इसमे क्या लिखा है ?प
लेखक अपनी अज्ञता स्वीकार करता है कि विद्वान हिन्दी लेखक की इस रच
को समझने मे वह पूर्ण असफल रहा। इस लेख के आरम्भ के उद्धृत शब्द हि
का कोई लेखक इन पक्तियो के लेखक को समझा दे तो बड़ी कृपा होगी। लेख
ने उक्त रिपोर्ट केन्द्र के एक मंत्री महोदय को दिखलाई। उन्होंने कहा–'मैं
हिन्दी को समझने मे सर्वथा असमर्थ हू किन्तु वैज्ञानिक और पारिभाषि
अंग्रेजी शब्दों का अनुवाद इसी ढग का हो सकता होगा।'

इस पर लेखक को उस मुशायरे की याद आई जिसमे गालिब की अ
कठिन शायरी पर किसी कवि ने कुछ इस प्रकार कहा था—

अगर अपना कहा तुम आप ही समझे तो क्या समझे।
मजा जब है कहे एक और उसको दूसरा समझे॥ आदि

भाषा, भले ही वह वैज्ञानिक हो या पारिभाषिक, ऐसी होनी चाहिए वि
एक विद्वान जो कहे या लिखे, उसे सब समझ लें। भाषा का गुण सरलता औ
सरसता है। धातु-पाठ मे कहा गया है 'भाष् व्यक्तायां वाचि' अर्थात् भाषण
या भाषा के व्यवहार का अर्थ है कि जो बोला जाए वह व्यक्त या स्पष्ट हो।
भाषा समाज की उपज है। वह इसलिए जनमी कि समाज के नाना सदस्य या
व्यक्ति परस्पर मे इसकी सहायता से एक दूसरे की बात ठीक समझें और उस

वाणी से प्रेरित हो कर परस्पर श्रेय कर के समाज को दिन दूना और रात चौगुना आगे बढ़ाए। भाषा का यह मूल उद्देश्य तभी सफल हो सकता है जब हम जो कहें उसे हमारे भाई सरलता के साथ स्पष्ट समझ सकें। शब्द चाहे वैज्ञानिक हों, चाहे पारिभाषिक उन्हें सरल और व्यंजक होना चाहिए जिससे उसके निश्चित अर्थ का तुरन्त बोध हो और किसी प्रकार का भ्रम न रहने पाए। लेख के प्रारम्भ के उल्लिखित शब्द सर्वथा भ्रमपूर्ण हैं। गंज शब्द संस्कृत कोश में है ही नहीं। वरी शब्द का उपयोग प्रसिद्ध संस्कृत कोशकार मोनियर विलियम्स के कथनानुसार सारे संस्कृत साहित्य में केवल एक बार हुआ है। ऐसे विरल और अप्रयुक्त शब्दों को क्या जनता या विद्यार्थी सरलता से समझ पाएंगे? यदि समझ ही न पाए तो यह वाणी भ्रमपूर्ण और अस्पष्ट है। परिणाम यह होगा कि हमारी राष्ट्र-भाषा में अर्थ का अनर्थ होने लगेगा। वह उपहासास्पद बन जाएगी। इसका उच्च आसन डोलने लगेगा। इसके कुछ आसार अभी से दिखलाई देने लगे हैं। हम सबका यह कर्तव्य होना चाहिए कि हम भाषा शास्त्र के विरुद्ध खींच ले जाने वाली इस कुप्रवृत्ति को रोकें अन्यथा भयंकर कुफल हमारे समाज को भोगना पड़ेगा।

क्या यह आवश्यक है कि हमारे नवनिर्मित शब्द अंग्रेजी की हूबहू नकल हों? ऊपर प्रणोदक ऐसा ही शब्द है। यह प्रोपेलर का पंडिताऊ अनुवाद है। कोश या संस्कृत साहित्य में इसका प्रयोग नहीं मिलता, भले ही अर्धमागधी में इसका रूप प्रणोल्लय पाया जाता है। हिन्दी में प्रेरक शब्द प्रचलित है जो प्र-इर् 'तेज गति करना' का एक रूप है। यह प्र-णुद् का प्रतिशब्द है और हिन्दी में चलता है। यदि इसका प्रयोग किया जाता तो कुछ अधिक हिन्दी भाषा-भाषी इसे समझ पाते। वरी बरसात के नाले को कहते हैं। यह अवेस्ता के वर या वार धातु जिसका संस्कृत में लोप हो गया है तथा जिसका अर्थ 'वर्षा होना' है, से निकला है। फारसी शब्द बारिश वार् धातु से बना है। फारसी में इस धातु का रूप वार्-ईदन् है। हमारे लिए और संस्कृत कोश में जल, नीर, तोय, वारि आदि का एक ही अर्थ मिलता है। इनमें भेद नहीं किया जाता। किन्तु वारि स्पष्ट ही 'बरसात का पानी' और वरी 'बरसाती नदी' यह वैदिक शब्द 'वरी' केवल निघंटु में पाया जाता है। उसमें इसका अर्थ 'नदी, नाला' है। इसका प्रयोग इस समय गड़े मुर्दे को उखाड़ना है। वर्त का अर्थ जीविका है, यहां यह वर्तन आवर्त् के स्थान पर रखा गया है। शब्द का यह उपयोग भाषाशास्त्र के नियमों के प्रतिकूल है। यह प्रयोग वैसा ही है

जैसा हिन्दी मे अनुपम और अनूप का है । अनुपम का अर्थ है 'बे-जोड बिना उपमा का ।' अनूप अनुपम है, इसका अर्थ है 'गीला, जलमय ।' हिन्दी मे हिन्दी शब्द सागर ने इसे संस्कृत बताया है और एक अर्थ दिया है 'बेजोड, जिसकी उपमा न हो ।' यह अनुपम का मनमाना प्रयोग है । छद की मात्रा ठीक करने के लिए पुराने कवि इस प्रकार का अशुद्ध प्रयोग करते थे । सूरदास ने जामिनी के स्थान पर जाम का प्रयोग भी किया है । जाम 'रात' नही 'याम' होना चाहिए । रामू, रामा आदि ऐसे ही प्रयोग है । किन्तु इस समय हमे भापाशास्त्र के सिद्धान्त मालूम हो गए है । अतः शब्दों के शुद्ध और सटीक प्रयोग से ही भापा की सम्पन्नता, व्यजकता आदि मे चार चाद लगेंगे ।

विज्ञान मे जर्मनी बहुत आगे है । वहा 'युवा जरठ बालक नर-नारी' सभी विज्ञान मे मंजे रहते है । विज्ञान के विचक्षण अध्यापक सरल भापा मे पुस्तकें लिखते है और जनता उनका अमृत-रस घोल-घोल कर पी जाती है । हिन्दी में टेलिफोन चलता है । इसका कोई प्रतिशब्द है ही नही । जर्मन मे टेलिफोन को फर्नस्प्रेशर कहते हैं । फर्न का अर्थ है 'दूर' और स्प्रेशर कहते है 'वक्ता' को । इस प्रकार जर्मन मे टेलिफोन को 'दूर-वक्ता' या 'दूरभापक' कहते है । यह शब्द सभी समझते हैं । बच्चा-बच्चा टेलिफोन का अर्थ अपनी साधारण बोली मे समझ जाता है । रेल या रेलवे के लिए हिन्दी मे शब्द ही नही है । जर्मन मे रेल को आइजन-वान कहते हैं । आइजन 'लोहा, अयस्' है, 'वान' का अर्थ है 'वाहन', इस प्रकार रेल का प्रतिशब्द जर्मन मे 'लोहे का वाहन या अयस्-वाहन' है । इस कारण जर्मनी में सब तुरन्त रेल का अर्थ समझ जाते है । हिंदी मे किसी विद्वान् ने वाष्प-यान रेल के लिए चलाया था वह चला नही । हिन्दी में टाइप-राइटर के लिए एक शब्द चला है टंकण-यंत्र । यह टंकण संस्कृत मे 'सोहागा' है, प्राकृत में टकण एक म्लेच्छ जाति है । टाइप के लिए टंकन शब्द किस आधार पर बना, इसका पता अविष्कारक विद्वान को ही होगा । जर्मन मे इस यंत्र को श्राइब-माशीन अर्थात् लिपि-यंत्र कहते हैं । इस शब्द की सरलता और सार्थकता स्वयसिद्ध है । इसे बच्चे भी आसानी से समझ सकते हैं । ऐसे सार्थक और आम-फहम (बाल-बोध) शब्द भापाशास्त्र तथा भापा के पंडित हिन्दी मे भी गढ सकते है । इसके लिए ऐसे विद्वानो की आवश्यकता है जो अपने विशेष विज्ञान तथा हिन्दी के महापंडित हो । हाइड्रोजन एक तत्व है जो जल मे बहुतायत से मिलता है । एक बंगाली वैज्ञानिक ने इसका प्रतिशब्द

बंगला मे उद्‌जन बनाया था। ग्रीक में पानी को हुदॅम कहते हैं—इसका भारतीय रूप उद्र है जो स्वतंत्र रूप में नहीं मिलता। यह समुद्र (सं-उद्र)अनुद्र मे मिलता है। इसका ग्रीक प्रतिरूप हुद्र या हुद्रोवर्त है। इससे हाइड्रो-जन बना। इसका अर्थ है 'पानी को जन्म देने वाला।' नाम कुछ कठिन है। इसका अर्थ ग्रीक न जानने वाले पर खुलता नहीं। उद्‌जन शब्द भी संस्कृत जानने वाला ही समझ सकता है। जर्मन वैज्ञानिकों ने इसका नाम रखा है Wasserstoff अर्थात् 'जल का सत'। छुटपन मे विसाती अनार का सत बेचता था, उसे हम बच्चे बड़े प्रेम से खाते थे। जल का सत ऐसा ही शब्द है, जिसके नाम से ही पता चल जाता है कि पानी में इसकी बहुतायत है। पानी का रासायनिक रूप $H^{2\circ}$ है। इसका तात्पर्य है कि पानी में दो अणु उद्‌जन और एक परमाणु ऑक्सीजन हैं। हिन्दी में भी पारिभाषिक तथा वैज्ञानिक शब्द इसी प्रकार बनाए जाने चाहिए। जर्मन मे तेजाब या अम्ल(Acid)को saure कहते हैं। Saure का अर्थ है 'खटास' इस नाम से अम्ल का अर्थ बालक की समझ में भी आ जाता है। तेजाब भी सरल शब्द है और आर्य भाषा का है। इसमे तेज वैदिक धातु तिज् 'तेज करना, काटना' से बना है और आब संस्कृत, अवेस्ता आदि के आपका फारसी रूप है। तेजाब का अर्थ है 'जीभ काटने वाला पानी या तरल पदार्थ।' अम्ल भी ठीक है। सबके समझने लायक है। जर्मन मे कार्बन को कोलनस्टौफ 'कोयले का सत' कहते हैं अर्थात् वह तत्व जिससे कोयला बनता है। कार्बोनाइज के लिए जर्मन शब्द Verkohlen अर्थात् 'कोयला-करण' है। कार्बन-पेपर का जर्मन Durehdruekpapior अर्थात् 'भीतर से छापने वाला कागज' है। हमारा केन्द्र शब्द ग्रीक केंट्रोन का भारतीयरूपान्तरहै। जर्मन में इसे सेंत्रुम् भी कहते हैं किन्तु वैज्ञानिक पुस्तकों में इसका अधिक प्रचलित रूप मिट्टलपुक्ट अर्थात् 'मध्यबिन्दु' है। यह इस कारण कि'मध्यबिन्दु'सभी समझ सकते हैं। झाड़-फानूस को अंग्रेजी मे Chandelier कहते हैं किंतु इसका जर्मन नाम Haengeleuchter अर्थात् 'लटकती रोशनिया' है। जर्मन बड़े दिन को क्रिसमस नहीं कहते, उनके वहाँ इसका बालबोध नाम—ख्रीस्ट का त्योहार, या पवित्ररात्रि-पर्व है। क्लर्क शब्द अंग्रेजी मे चलता है, हिन्दी में भी कहीं-कहीं इसका प्रयोग रह गया है। यह शब्द लैटिन का है। इसका प्रतिरूप संस्कृत में 'लेखक' है। अंग्रेजों के समय में अच्छा वेतन पाने वाले क्लर्क किरानी या किरंटे कहे जाते थे। ये शब्द संस्कृत कारणिक के रूप में हैं,

किन्तु कारणिक 'जाच करने वाले अधिकारी या जज' को कहत थे। जर्मन मे क्लर्क को Schreiber या लेखक ही कहते हैं। जर्मन मे Condense को गाढ़-करण और Condensator को ठंडी नली कहते हैं। इन नलियो पर बर्फ जम कर पदार्थों को ठंडा रखने वाली आलमारी के भीतर अति शीत पैदा होती है। इन नलियो का सीधा-सादा नाम जर्मन मे ठडी नली है, क्योकि इसमें अनेक मोड़ होने पर भी यह एक ही नली होती है। हिन्दी मे जब अंग्रेजी कंडेंसेटर का अनुवाद किया जाएगा तो वह संस्कृत मे भारी-भरकम और समझ में न आने लायक भयकर शब्द बन जाएगा, इसमे आश्चर्य क्या है? देखिए कि बड़े लोगों के भवनो मे नहाने के कमरों मे पानी गरम करने की एक मशीन टंगी रहती है। इसे हम इसके अंग्रेजी नाम गेजर से पुकारते हैं। गेजर स्वयं क्लिष्ट शब्द है। इसका संस्कृत अनुवाद हमारे अनुवादक महा-भयकर कर सकते हैं। अब इसको जर्मन प्रतिशब्द देखिए। जर्मन मे गेजर (Geyser) अर्थात् स्नान की अंगीठी कहते हैं। भला, इस शब्द को कौन न समझेगा? और सुनिए, वरीवर्त को जर्मन मे Kreiselrad अर्थात् घूमता पहिया कहते हैं। प्रणोदक को प्रेरक (Treiber) कहते हैं। सयत्र या एंजिन को मशीन यन्त्र' कहते हैं। हिन्दी मे एजिन या मशीन को कल या यत्र कहते हैं। अ-सस्कृत शब्द गन्न न सस्कृत, न प्राकृत और न ही किसी अन्य आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा में है। ऐसे विचित्र शब्द का प्रयोग भाषा को दुर्बोध बना देता है। कारपोरेशन या महानगर-सभा के अध्यक्ष (Mayor) को जर्मन मे नगरपति कहते हैं। वे शब्द सरल और सार्थक हैं। इनकी बहुत लम्बी सूची दी जा सकती है। हिन्दी विद्वानो और वैज्ञानिकों से नम्र निवेदन है कि विदेशी पारिभाषिक शब्दों का सरल और सार्थक अनुवाद करें जिससे साधारण पढ़ी-लिखी जनता ज्ञान-विज्ञान का अमृत-रस छक-छक के पिए और स्वतन्त्र भारत की प्रगति मे सहायक बने। हम सब का यह प्रथम धर्म है।

हिन्दी और फारसी

राष्ट्र के विकास से सबंधित अनेक प्रश्नो मे एक अति आवश्यक प्रश्न भाषा का है। सविधान के अनुसार हिंदी को राष्ट्र भाषा के पद पर आसीन होना ही है। हमारा यह निश्चय न जाने कब पूर्णतया सफल होगा। रास्ते मे नाना अडचनें खडी की जा रही हैं। इन अडचनो का एक प्रमुख कारण हमारे साहित्यिकों का हिन्दी की परम्परा के संबंध में अज्ञान है। यह अनिश्चयात्मक बुद्धि भी विकास मे बाधक ही है कि हिंदी भाषा केवल संस्कृत की परम्परा मे आयी है। इसके विपरीत हमारे कई साहित्यिक और विशेषत: कवि उर्दू मे फारसी और अरबी से उचित अतिसुंदर शब्दो का व्यवहार देखकर उनका भी प्रयोग हिंदी मे करने लगते हैं। हिंदी अभी इस संदिग्ध और अराजकता की अवस्था मे है। अपना वास्तविक रूप समझने और ठीक करने में ही वह असमर्थ दिखाई दे रही है।

यास्काचार्य के समय से हम इसके प्रमाण पाते हैं कि प्राचीन संस्कृत भाषी लोग या सस्कृत भाषा के वैयाकरण यह जानते थे कि स्वयं संस्कृत भाषा भी कुछ विदेशी भाषाओ से संबधित है। यास्क ने बताया है कि शवति गति-कर्मा ईरानी लोग बोलते हैं पर आर्य लोगो मे इसका एक मात्र रूप शव-मुर्दा, *लाश काम मे आता है। पाठक जानते ही हैं कि इस समय शव शब्द प्राणहीन* शरीर के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। किसी समय मे यह शब्द अवश्य ही अर्थी ले जाने के अर्थ मे प्रयुक्त होता रहा होगा। यास्ककृत निरुक्त के समय के बाद और यह बहुत संभव है कि स्वयं पतंजलि के बाद यह शव धातु चलने के अर्थ मे धातु पाठ मे ले ली गयी। अवेस्ता मे भी,जो पारसियो का धर्म ग्रंथ है और जिसकी भाषा वेदो की भाषा से बहुत मिलती है, यह शव धातु काम मे लायी गयी है। ध्वनि परिवर्तन का एक नियम है कि सस्कृत के स, श, ष फारसी भाषा

मे ह हो जाते हैं। अवेस्ता मे भी यही प्रक्रिया मिलती है। हमारा सहस्र शब्द अवेस्ता मे हजह्म्र रूप में मिलता है। इसमे स का ह और ह का ज हो गया है। अवेस्ता की भाषा मे सस्कृत भाषा के ह का ज भी होता था, जैसे संस्कृत का बाहु फारसी मे बाजू रूप मे मिलता है। उक्त शब्दों से यह बात भी स्पष्ट हुई कि आर्य जाति की नाना भाषाओं मे बहुत से शब्द एक मूल आदि आर्य भाषा के ही रूपातर हैं। उनमे भिन्न-भिन्न कारणों से ध्वनि-परिवर्तन की प्रक्रिया ने इतना भेद कर दिया है कि हम समझते हैं कि यह शब्द ही बिल्कुल भिन्न है।

अब देखिए कि यूरोप मे जर्मन, फ्रांसीसी, रूसी आदि भाषाएं आर्य जाति की हैं। हिंदी मे हम आदमी को मनुष्य कहते है। सस्कृत मे भी यही रूप है। *जर्मनो के मुख से निकल कर इस शब्द ने मेन्श रूप धारण कर लिया।* हमे शब्दों की ऐसी एकरूपता कभी नही खटकी, क्योकि हमने अपने मन में एक *बात अति प्राचीन काल से जमा ली थी कि संस्कृत देव-भाषा है और इसका* किसी अन्य भाषा से कोई संबध नही है। हमारे देश मे मुसलमानो के आगमन काल से फारसी *और अरबी भाषाएं आयी और ऐसा समय* भी आया जब हिंदुओ मे भी उक्त भाषाओ का बहुत प्रचार हुआ। किन्तु खेद है कि हिंदुओ ने यह न देख पाया कि नर मादा कबूतर माहमेह आदि शब्दो मे आर्य रूप वर्तमान है। नर शब्द सस्कृत मे भी है, मादा माता का रूप है और शौरसेनी प्राकृत मे यह रूप व्यवहृत होता है। कमबहो नामक एक प्राकृत काव्य मे आया है मादापिदरेवबच्छले जिसका अर्थ है माँ-बाप के समान प्यारे। पाठक तुरन्त ताड जायगे कि उक्त पद मे पिता या पितर के लिए जो पिदर शब्द आया है वह फारसी भी है। कबूतर शब्द सस्कृत में कपोत है अवेस्ता मे भी कपोत है अब यह फारसी मे घिस कर कबूतर हो गया है। माह शब्द फारसी मे महीने के लिए आता है। ध्वनि परिवर्तन का यह नियम लिख दिया गया है कि सस्कृत स अवेस्ता तथा फारसी मे ह हो जाता है। स का ह उच्चारण कुमायूनी मे भी पाया जाता है। सूरत के आसपास के सौराष्ट्र प्रदेश मे इसका इतना अधिक प्रचलन है कि वहाँ सगाई का रूप हगाई बन जाता है। साढेसात को हाढ़ेहाथ कहते हैं आदि आदि। यदि यही नियम फारसी में भी लागू होता है तो क्या इसी कारण वह अनार्य भाषा कही जायगी? मेह प्राकृत मे भी मेघ को कहते है। फारसी मे इसके अर्थ का कुछ अधिक विस्तार हुआ और अवेस्ता मे जो

शब्द मेघ के लिए आता था अब वर्षा के लिए आने लगा। हिन्दी में ही देखिए कि प्राचीन कवियो ने बरसतदेव शब्दों का प्रयोग किया है। इन शब्दों का वास्तविक अर्थ है कि इन्द्र देवता बरसता है। इस कारण अर्थ का थोड़ा विस्तार होकर हिन्दी की कई बोलियों मे वर्षा होने को देव या दइव बरसना कहते हैं। पाठक यह भी देखेंगे कि संस्कृत की वर्षा और फा० बारिश भी एक ही अर्थ की द्योतक है। अब मै को लीजिए। यह शब्द संस्कृत मधु का प्राकृत रूप है। प्राकृत मे मै और मय दोनो शब्द पाये जाते हैं। मद का प्राकृत रूप महु हुआ। वह अनपढ लोगो की जबान पर चढ कर मै या मय बन गया।

उक्त थोड़े से शब्द उदाहरणार्थ दिये गये हैं। क्रिया मे भी फारसी मे ऐसे शब्द मौजूद है जो सस्कृत के प्रतिशब्द हैं। मान लीजिए किसी आपके मित्र ने आपसे कहा, "क्यों साहब क्या खरीद रहे हैं?" इसमे खरीद शब्द संस्कृत क्रीत का रूप है। हिन्दी मे तो यह मुहावरा नही चलता कि आप क्या क्रीत कर रहे हैं किन्तु फारसी मे इस शब्द का अस्तित्व अवश्य बता रहा है कि मैं विशुद्ध आर्य भाषा का वशज हूं। एक और शब्द लीजिए, फारसी मे क्रीस्त का अर्थ है, क्या है? मः मे विदा स्ति शब्द है जो अस् धातु का बहुत दूर का सबधी है हिन्दी मे संस्कृत अस्ति का अस्त रूप स्पष्ट बताता है, कि फारसी में आदि भाषा का प्रभाव आज भी वर्तमान है। जर्मन मे यह रूप इस्ट हो गया है। अंग्रेजी मे इसका टी लुप्त होने के कारण इज ही रह गया है। अंग्रेजी एम भी पुरानी अंग्रेजी मे इस्म ही था। पाठक इस्म मे हमारे संस्कृत अस्मि का विकृत रूप देख सकते हैं। अब देखिये फारसी का मुर्दा शब्द सस्कृत मृत का ध्वनि परिवर्तन के आधार पर बदला हुआ रूप है मर्द शब्द लीजिए इसमे भी त का द हो गया है। सस्कृत मे मर्त्य और मर्त दोनो शब्द हैं, उनका प्राकृत शौर सेनी रूप समझ लीजिए। इस प्रकार फारसी मे अधिकाश शब्द संस्कृत से बहुत हो मिलते हैं। हा, ध्वनि परिवर्तन ने ऐसा तमाशा कर रखा है कि यह सब शब्द अपने हैं फिर भी हम इनसे भयभीत हो जाते हैं। थोडा सा गम्भीर अध्ययन हमे बता देता है कि इन शब्दों का यह विकृत रूप हमे उसी प्रकार भ्रमवश भयभीत कर देता है जिस प्रकार शेर की खाल पहन कर गधे ने लोगो को भयभीत कर दिया था। फारसी का गुजरना शब्द लीजिए इसका मूल वैदिक तथा आवेस्ता की भाषा मे विचर धातु है।

ऐसे ही फारसी शब्द गुर्ग लीजिए। यह शब्द वैदिक तथा अवेस्ता की भाषा में क्रमशः वृक तथा वेहरक है। जब हम उर्दू के खिलाफ कुछ कहते हैं तो बिना यह जाने बोलते हैं कि उर्दू शायरों की भाषा फारसी से अत्यन्त प्रभावित है। उसमें अरबी के कम और फारसी के अधिक शब्द हैं। उस समय हमको यह ध्यान भी नहीं रहता कि फारसी के अधिकांश शब्द संस्कृत के रूपांतर मात्र हैं। मेरा यही अभिप्राय है कि हमें भाषा के संबंध में कुछ भी सम्मति देने के पूर्व भाषा के मूल के विषय में जरूर जान लेना चाहिए अन्यथा विद्वानों के सामने हसाई हो जाती है।

भाषा की सुन्दरता : सरलता तथा अभिव्यंजकता

भाषा एक यन्त्र है, जिसके माध्यम से मानव-जाति अपने विचारों को अन्य मनुष्यों पर प्रकट करती है। यह तथ्य भारतीय भाषाविदो को भली-भाति मालूम था। वैदिक भाषा संस्कृत से भिन्न थी। उसका सस्कार न हुआ था। वह मितान्नि-भाषा की सन्तान थी। यह मितान्नि-भाषा वर्तमान अरब के सीरिया नामक छोटे-से देश मे प्राग भारतीय आर्यों द्वारा बोली जाती थी।

सीरिया के उत्तर मे टर्की की राजधानी अंगोरा के पास ही साढ़े तीन से चार हजार वर्ष पूर्व खत्तियों का राज्य था। उनके प्रबल प्रताप से आसपास के राज्य थर-थर कापते थे। खत्तियो का पराक्रम बहुत प्रबल था। उन्होने टर्की और अरब के राज्यो को दबाया। ये खत्ति प्रथम आर्य थे, जिन्होने पश्चिमी एशिया मे बडा भारी आतंक जमा रखा था। इन्होने अति पराक्रमी और सुसभ्य मिस्र को हराया और उससे अपने मन के अनुसार सन्धि कराई। इनकी भाषा आदि आर्यभाषा से बहुत मिलती जुलती थी, उसके अक्षरो मे क-ग, त-द तथा प-ब में कोई भेद नही था। ये कभी क लिखते थे और उसका उच्चारण ग भी कर देते थे। उसी प्रकार त-थ और प-ब मे वर्तमान उच्चारण की भाँति भेद नही कर सकते थे। सीरिया के मितान्नि भी उक्त अक्षरो में भेद न कर पाते थे और उक्त दोनों अक्षरो का एक-सा उच्चारण करते थे। उनके लिए वुषुद्ध और तुषुदद्ध शब्द एक ही प्रकार के उच्चारण रखते थे। सम्भवतः, उक्त वुषुद्ध या तुषुद्ध शब्द हमारे रामचन्द्रजी के पिता दशरथ शब्द की व्युत्पत्ति खोलता है; क्योंकि प्राचीन समय में दशरथ शब्द का अर्थ

संस्कृत मे 'दस रथवाला, ही हो सकता है, जो एक प्रतापी राजा के लिए विशेष सम्माननीय नही माना जा सकता । अयोध्या—'जिससे कोई युद्ध नही कर सकता', ऐसे वीर और विक्रमी देश का राजा युयुत्सु ही होना चाहिए। यह ऐसा महान् प्रतापशाली राजा होगा, जिसके पथ मे कोई रोक नही लगा सकता था । उक्त खत्ति और मितान्नि-भाषाओं का प्रभाव ऋग्वेद मे भी अवश्य दिखाई पड़ता है, जो स्वाभाविक ही है । ऋग्वेद मे एक शब्द मिलता है—देवत्त, जिसे समझना महान् दुरूह होता, यदि शाकल्य ने अपने पदपाठ में इसके स्थान पर संस्कृत-पर्याय देवदत्त न लिखा होता । इस त्त की तारीफ़ देखिए कि इसके भीतर एक द और दो त हैं, ये तीनों मिलकर त्त हो गये; क्योंकि खत्ति और मितान्नि-भाषाओ मे द और त के उच्चारण मे कोई भेद नही माना जाता था । इस प्रकार के अशुद्ध नियम को बाद के वैदिक पण्डितो ने भ्रामक समझा और हमारे उस समय के आर्य पूर्वज वैदिक भाषा की भूलो या अशुद्धियो का सस्कार करने मे लग गये । थोड़े समय बाद इन महाज्ञानियो ने भाषा का सस्कार कर दिया और उसे संस्कृत बनाकर चमका दिया । उन्होंने संस्कृत के व्याकरण बनाये और भाषा क्या पदार्थ है, इसका रहस्य भी खोल दिया । उन्होने भाषा के विषय मे महान् शोध करके यह तथ्य निकाला–भाष् व्यक्तायां वाचि, अर्थात् भाषा वह यन्त्र है या बोलने की वह रीति है, जिसमे मुँह से ऐसे शब्द निकलते है, जो सुनने वालो पर अपनी छाप बडी स्पष्टता के साथ लगा देते हैं। भाषा की इससे अच्छी परिभाषा दूसरी नही हो सकती ।

खेद है कि हिन्दी-भाषा के क्षेत्र में यह परिभाषा काम मे नही लाई जा रही है । हिन्दी मे वर्तमान समय में जो नये-नये शब्द निकल रहे है, उनमे भ्रामकता का बडा आधिपत्य है । इसका कारण यह है कि हिन्दी के विद्वान् मनमाने शब्द गढ देते हैं । वे इसका ध्यान नही रखते कि शब्द के भीतर हमने जिस आख्यात को रखा है, क्या वह शब्द को उचित अर्थ दे रहा है ? शाकटायन ने अपने व्याकरण मे सूत्र दिया है–सर्वाणि नामानि आख्यातजानि, अर्थात्, 'जो भी शब्द बना होगा या बनाया जाय, उसमें एक या दो संयुक्त अक्षर ऐसे रहने चाहिए, जो सारे शब्द का अर्थ खोल दें ।' संस्कृत का जब सस्कार किया गया, तब यह नियम बनाया गया । आप एक शब्द भी संस्कृत मे ऐसा न पायेंगे, जो अपना अर्थ स्वयं न खोल दे; क्योंकि शब्द के अन्दर ही

ऐसा आख्यात रहता है, जो उसका अर्थ खोल देता है, चाहे आख्यात बीजाक्षर ही क्यों न हो। उदाहरणार्थ, आप एक शब्द को लें। जिस समय भाषा का आरम्भ हो रहा होगा, उस समय कुछ बोली रही होगी और अधिक शरीर के भिन्न-भिन्न अंगो द्वारा संकेत किये जाते होंगे। उस समय मनुष्य ए-ए कहकर अपने साथियों को एक पदार्थ दिखाता होगा। खाली ए-ए कहने में कुछ असुविधा-सी होने लगी होगी, तो उच्चारण की सुविधा के लिए क प्रत्यय जोड़ दिया गया होगा। यह एक अवेस्ता की भाषा में अएव (अए-व) कहा गया। इसमें ए, ए-तत्, ए-तस्मिन्, ए-तत्र आदि रूपों के बीजाक्षर हैं। अद्य, व्याकरणकारो के अनुसार कभी अ-द्यवि था। अद्यवि का अर्थ हुआ 'इस दिन'। इसमें अ बीजाक्षर है। हिन्दी में जो आज शब्द है, वह इस कारण है कि भारत में मध्यकाल की बोली में अद्य का उच्चारण अज्ज हो गया तथा प्राकृत और हिन्दी के नियमानुसार कज्ज का काज, रज्ज का राज होता ही है। उक्त शब्दों में जो बीजाक्षर हैं वे आख्यात हैं, अर्थात् शब्दों के अर्थ को खोलने वाले हैं। इसी प्रकार अयोध्या शब्द में अ (नहीं) उपसर्ग है और युध् (लड़ना) धातु है, जिनका अर्थ हो गया—'वह नगर या राज्य, जिससे कोई राजा या राष्ट्र युद्ध नहीं कर सकता और यदि युद्ध करेगा, तो हारेगा।' यहाँ के राजा का नाम दुर्युद्ध होना इसके अनुकूल ही है।

भाषा परिवर्तनशील है। वह घिसेगी और मंजेगी। उसका विकार अवश्य होगा। जिस प्रकार बड़े-बड़े नुकीले पत्थर जल के प्रवाह में हजारों वर्षों में घिस-घिस कर अपनी नोकें खो देते हैं और शालिग्राम का रूप धारण कर लेते हैं, उसी प्रकार अति प्राचीन अ-द्यवि शब्द इस समय हिन्दी, बंगला आदि में आज रूप में वर्तमान है। आज शब्द को अद्य का विकार भले ही समझा जाय; किन्तु वह वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं में उतना ही शुद्ध है, जितना कि वैदिक काल में अद्य था। हिन्दी में हमने अद्य को भी अपना लिया है, इस कारण हिन्दी में अद्य का प्रचलन अशुद्ध नहीं है।

शब्दों का विकार कई कारणों से होता है। कान से ठीक न सुनाई देना; कण्ठ से घिसी ध्वनि का निकलना; कान में ऊँचा सुनाई देना; वाक्-यन्त्र में कोई दोष आ जाना इत्यादि। इनके अलावा कभी-कभी हमारे ज्ञान में कुछ विकार पैदा हो जाता है। इस कारण भी हम अशुद्ध शब्दों का प्रयोग कर लेते

हैं। तुलसीदास विद्वान् थे। उन्होंने अपनी रामायण में हजारों शब्द अपभ्रंश के दिये हैं। उन्होंने सयंभू और पुष्पदन्त की रामायणें अवश्य पढ़ी होंगी; क्योंकि उन्होंने लिखा है—

ते प्राकृत कवि परम सयाने। जे भाषा हरि चरित बखाने॥

उनकी **हरिचरित** शब्द की भूल प्राकृत और अध्यात्मरामायण को पढ़ने के कारण हो गई। अध्यात्मरामायण में रामजी का एक नाम हरि भी दिया गया। पुष्पदन्त ने अपनी रामायण के आरम्भ में लिखा है. **मैं हरि गुण** थ्योत्तु (?), अर्थात् 'हरि के गुणों का स्तोत्र गा रहा हू।' वास्तव में, यह कथन ठीक ही है, क्योंकि प्राकृत-रामायणों का राम, बलराम है और कृष्ण बलराम का भाई। अब और तमाशा देखिए कि कृष्ण को हरि इसलिए कहा गया कि वे पीले कपड़े पहनते थे। **हरि** का अर्थ वैदिक काल से 'पीला' ही रहा है। संस्कृत में भी **हरिद्रा** 'हल्दी' है, जिसका रंग पीला होता है। **हरताल** उस धातु का नाम पड़ा, जो पीली है। **बन्दर** का रंग भूरा रंग मिला हुआ पीला होता है, उसका नाम भी हरि ही है। पीले रंग की धातु सोने को वैदिक काल से **हिरण्य** (हरि-ण्य) कहते हैं। इसी कारण, श्रीकृष्ण जी पीले कपड़े पहनते थे। सो, पीताम्बर होने के कारण उनका नाम भी हरि पड़ा। इससे स्पष्ट है, **हरिचरित** शब्द प्राकृत-रामायणों के कवियों का है। वाल्मीकि ने तो **हरि** शब्द का उल्लेख सारी रामायण में नहीं किया। तुलसी की यह भूल भाषा वैज्ञानिक है। तुलसी को यह पता न था कि हरि और राम में क्या अन्तर है तथा ये दोनों नाम दो अवतारों के किस कारण पड़े। तुलसी की एक और भूल लीजिए अपभ्रंश-कवियों के बाद तुलसी ने शुद्ध संस्कृत-शब्दों का अधिक प्रयोग किया। उसके काल के प्रभाव के कारण इस महान् कवि ने अपभ्रंश-रूपों का कम प्रयोग नहीं किया, किन्तु शुद्ध संस्कृत-शब्दों को प्राथमिकता देने का प्रयत्न किया। इस कारण, उन्होंने **संचार** (वृत्त या खबर) शब्द को अपभ्रंश मानकर उसका संस्कृत-रूप **समाचार** समझा। मैंने इस अपभ्रंश-शब्द को सयंभू के प्राकृत-रामायण में एक ही स्थान पर देखा है। नर्मदा के किनारे रावण एक स्थान पर शिव की पूजा की तैयारी करता है। भगवान् शिव की मूर्ति के सामने पूजा की सामग्री सजाकर रखता है पूजा का विराट् आयोजन हो रहा है। इतने में नर्मदा नदी में बाढ़-सी आती है और पूजा की राजसी सामग्री उस बाढ़ में बह जाती है। रावण का क्रोध आग की तरह भड़क उठता

है। वह अपने बीसियों चरों को बाढ़ के कारण का पता लगाने के लिए छोड़ता है। ये चर जब लौटते हैं, तब उनमें से एक अन्य चरों के पूछे जाने पर कहता है—**आई सई एतड़ी सार संचार हो**, अर्थात् मैं इतना ही पक्का समाचार लाया हूं, कहकर बताता है कि इस स्थान से थोड़ी दूर पर अमुक राजा अपनी रानियों-सहित नर्मदा नदी के जल को बांधकर जल-विहार कर रहा था। जल-विहार के बाद जल के बांधों को खोल देने के कारण नर्मदा में एकाएक बाढ आ गई और शिव की पूजा के लिए सज्जित सब सामग्री जल के साथ बह गई। उक्त अपभ्रंश-पद में, जैसा पहले भी कहा गया, **संचार** शब्द को अपभ्रंश या प्राकृत समझकर महाकवि तुलसी ने **संचार** का सस्कृत-रूप **समाचार** समझा और अपने रामचरितमानस मे इस शब्द की भरमार कर दी। अब विचार करने की बात है कि आपटे के सिवा अन्य किसी कोशकार ने **समाचार** का अर्थ 'खबर' नहीं दिया है। **समाचार** का प्रयोग महाभारत मे **'स्त्री-समाचार, क्षत्रिय-समाचार** आदि शब्दो मे किया गया है। जिनका अर्थ है—'स्त्री-जाति का आचार, क्षत्रियो का आचार'। पालि मे **संग-समाचार** शब्द है, जिसका अर्थ है 'सग के भिक्षुओं के नियम'। *अतः,* इस शब्द का प्रयोग सस्कृत का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण हुआ है। यदि तुलसीदास जी के पास आजकल की भाँति पीटर्स बुर्गर, सात खण्डों का सस्कृत-जर्मन-कोश या मोनियर विलियम्स का संस्कृत-अंग्रेजी-कोश होता, तो वे ऐसी भूल कदापि नहीं करते और यदि उन्हे शाकटायन का उपरिलिखित सूत्र मालूम होता, तो भी वे यह भूल न करते। क्योंकि, समाचार शब्द **सं** तथा **आचार** के योग से बना है, जिनका स्पष्ट अर्थ है—'समूह का आचार।'

भारत में **बाबावाक्यं प्रमाणम्** का जादू सबके सरो पर चढा है। तुलसी ने समाचार शब्द का व्यवहार किया, तो हम सभी इस शब्द को लेकर भागने लगे। और, आज भी सिन्धी मे 'संसार-समाचार' निकलता है। हिन्दी का अति प्राचीन साप्ताहिक 'वेंकटेश्वर-समाचार' भी बम्बई से प्रकाशित होता था। कई समाचार-समितियाँ भी आज हिन्दी-समाचार-जगत् में काम कर रही है। जो हो, यदि तुलसी दास जी सस्कृत-व्याकरण में निष्णात होते, तो वे इस भूल से अवश्य बचते। भाषा को अभिव्यक्ति देने तथा उसकी व्यंजकता बढ़ाने के लिए हमे शब्द का आख्यात अवश्य देखना चाहिए।

एक बार एक सज्जन ने मेरी एक पुस्तक **भाषणमाला** के स्थान पर

कतिपय भाषण लिख दिया। मैंने सम्पादक महोदय को लिखा कि **कतिपय** हिंदी मे सुन्दर शब्द नही है। संस्कृत में भी यह शब्द वर्णसंकर है। अतः, कृपया भाषणमाला रहने दीजिए; क्योकि **गंगापुस्तक-माला** आदि कई मालाएं निकलती हैं और पूना मे बसन्त ऋतु मे सदा कुछ चोटी के विद्वानों के भाषण **बसन्त-व्याख्यान-माला** नाम से दिये जाते है। इस पर सम्पादक महोदय ने पाणिनि के **कतिपय** शब्द के सम्बन्ध मे दो सूत्र इसलिए भेज दिये कि कतिपय शब्द पर पाणिनि ने अपनी छाप लगा दी है। **बाबावाक्य प्रमाणम्** मनुष्य को ऊँचा नही उठाता, उल्टा उसे गिराता है। वाकर नागल महोदय ने पाणिनि की कुछ भूलें दिखाई हैं। नेति-नेति का अर्थ यह है कि कोई पदार्थ, ग्रन्थ और सिद्धान्त पूर्णता को नहीं पहुंचा है। अभी सभी क्षेत्रों में उन्नति के लिए स्थान है। सर्वत्र अपूर्णता है, जिसे हम अपने ज्ञान से पूर्णता की ओर ले जाते हैं। एक पुराना शब्द लीजिए: हिन्दी मे **अनुवाद** और **अनूदित** शब्दो का बोलवाला है। जिस किसी एक भाषा के ग्रन्थ का भाषान्तर किया जाता है, वह या तो **अनुवाद** या **अनूदित** है। अब थोड़ा विचार करें कि **अनुवाद** का अर्थ क्या है ? अनुवाद मे अनु और वाद का मेल है अनु का अर्थ है 'अनुसार' और **वाद** वद् ('बोलना') धातु से निकला है। मुँह को हम सस्कृत मे **वदन** कहते हैं; क्योकि हम मुँह से बोलते है। अनूदित ग्रंथ बोलता नही, वह लिपि द्वारा लिखा जाता है। इस कारण यह शब्द निश्चय ही भ्रामक है, भले ही यह आज प्रायः सौ वर्षो से चल रहा हो। इसी प्रकार, हिन्दी का **कतिपय** शब्द अति प्राचीन है और पाणिनि के समय भी यह सस्कृत-भाषा मे चलता था। पाणिनि की अष्टाध्यायी में इसके लिए सूत्र भी है, फिर भी इस शब्द की स्पष्ट व्युत्पत्ति कही नही मिलती। **कति** शब्द तो संस्कृत है, किन्तु **पय** शब्द क्या है ? संस्कृत में **पय** का अर्थ 'झील' है तथा पयस् का अर्थ 'वर्षा, पानी या दूध' है। इसलिए, **कति-पय** का **पय** शब्द न मालूम क्या अर्थ रखता है। यह सम्भवतः किसी प्राकृत शब्द का प्राचीन रूप हो।

हम जानते हैं कि ऋग्वेद के समय से ही प्राचीन भारतीय भाषाओं में सस्कृत के भीतर प्राकृत के शब्द भी घुस गये। ऋग्वेद मे **प्र-कृत** शब्द भी है और उसका प्राकृत-रूप **प्रकट** भी साथ-साथ चलता है; इस वेद मे **वि-कृत** शब्द चलता है और उसका प्राकृत-रूप **विकट** भी बार-बार मिलता है। संस्कृत मे भी कई प्राकृत शब्द चलते हैं। यह **कतिपय** एक ऐसा ही शब्द है। इस

कारण ऐसे अस्पष्ट शब्दो का व्यवहार न करना ही अच्छा है। जैसा हम पहले कह चुके हैं कि ऐसी ही बात बोली तथा लिखी जानी चाहिए, जो श्रोता या पाठक के मन पर पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाय। अंग्रेजी-भाषा मे सरल शब्दों और प्रसाद गुण का ही आदर है। फ्रेंच-भाषा मे तो रूसो, वालटेयर, डिडरो आदि ने ऐसी सरल और मंजी भाषा लिखी कि वह सारे यूरोप की भाषा (Lingua Franca) बन गई। हिन्दी भी सरल और स्पष्ट रूप से लिखी जाय, इसी मे उसके 'राष्ट्र भाषा'-पद का सम्मान बढ़ेगा।

आजकल कठिन हिन्दी-शब्दो के कुछ प्रेमी सैकड़ो वर्ष से चले हुए प्रसग शब्द के स्थान पर अशुद्ध शब्द सन्दर्भ का प्रयोग करते हैं। सन्दर्भ शब्द का अर्थ 'बाधना, गूंथना' आदि अवश्य है, किन्तु सन्दर्भ का अर्थ 'प्रसग' नही है। इस प्रसंग के स्थान पर सन्दर्भ का प्रयोग करना सर्वथा अशुद्ध है और दुरूह तो स्पष्ट ही है। हम Reference Library को सन्दर्भ-पुस्तकालय नही कह सकते। प्रासंगिक पुस्तकालय कहना सरल और उचित ही है। भाषा मे सरलता, शुद्धता, अभिव्यंजकता और स्पष्टता का होना भाषा की सुन्दरता बढाता है तथा उसे सबके समझने योग्य बना देता है। इसका ध्यान रखना विद्वानों के लिए उचित ही है कि भाषा को दुरूह और कठिन बनाने से उसका सम्मान घटेगा ही, बढेगा नही।

पारसी और उनकी वाणी

'पाकिस्तान' शब्द उसी रूप मे संस्कृत है, जिस भाँति 'हिन्दुस्तान'। यह बात हिन्दी-भाषा-भाषियों के लिए महान गौरव की है, क्योंकि ये शब्द ईरानी भाषा के हैं, जो संस्कृत की बहन है। 'पाक' शब्द शुद्धता के अर्थ मे ऋग्वेद मे बार-बार आया है। एक स्थान में 'पाक दूर्वा' शब्द मिलता है। इसका अर्थ भी स्पष्ट है–अर्थात् 'पूजा के योग्य पवित्र दूब'। इन्द्र देवता का एक नाम संस्कृत मे पाकशासन है। इसका भी मतलब है कि 'पाक यानी पवित्र और दोष-रहित शासन करने वाला'। फारसी मे यह पाक शब्द आज भी प्रचलित है। 'पाक दिलसे' मुहावरा ही है, ऋग्वेद मे इसका पर्यायवाची मुहावरा है–पाकेन मनसा। इसी मूल वैदिक शब्द के आधार पर पाकिस्तान (=पाक+स्थान) नाम गढा गया है। क्या यह हमारे लिए महान गौरव का विषय नही है ? इसी प्रकार हिन्दुस्तान शब्द वैदिक भाषा की बहन फारसी से निकला है। यह नियम है कि वैदिक 'स' प्राचीन ईरानी मे 'ह' हो जाता है। सप्त का 'हफ्त', सप्ताह का 'हफ्ता', सुनर (संस्कृत सुन्दर) का हुनर आदि शब्द स्वयं बोलचाल की हिन्दी मे प्रचलित हैं। इस नियम से सिन्धु का प्राचीन ईरानी मे 'हिन्दु', 'हिन्द' हो गया; सो 'सिन्धुस्थान' हिन्दुस्तान हो गया। पहले-पहल 'हिन्द' शब्द का प्रयोग प्रायः अढाई हजार वर्ष पहले ईरानी राजा दार्यवश (Darius)ने अपने बहिस्तून के शिलालेख मे किया है। इधर हमने यह शब्द सारे देश के लिए अपना लिया है। इस शब्द के आधार पर ही गिलक्राइस्ट साहब ने प्रायः १७९६ ई० मे भारत की प्रचलित भाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' रखा। और भारत का नाम 'हिन्द' समझ कर उर्दू-कवियो ने हाल–हाल तक अपनी शायरी की भाषा का नाम रखा था 'हिन्दी' या 'हिन्दवी'। जाफर 'जटल्ली' ने(१६५९-१७१३ ई०) लिखा है –

अगरचे सभी कूड़ ओ कर्कट (अ) स्त,
ब हिन्दी बो रिन्दी जबाँ लटपट(अ)स्त।

अर्थात् यद्यपि सभी कूड़ा-कर्कट है, पर हिन्दी मे रिन्दी पर (शराब और इश्क की महिमा पर) लिखने से भाषा में विशेष आनन्द आता है। 'दर्द' के भाई 'असर' ने अपने दीवान के बारे में कहा है: 'फारसी सौ है, हिन्दवी सौ है'— यानी मेरे इस दीवान में फारसी तथा हिन्दी के सौ-सौ शेर हैं।

यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि हमारी वैदिक और संस्कृत के परिवर्तित रूप किसी-न-किसी रूप में भारत से लेकर आयरलैण्ड और अमरीका तक बोले जाते है। इसलिए डा०सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने पेरिस की एक विद्वत्सभा मे कहा था कि भविष्य मे सर्वराष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दों का आधार सस्कृत भाषा होनी चाहिए। और यह सर्वथा उचित है; क्योंकि संस्कृत के बहुतेरे शब्द सर्वराष्ट्रीय हैं। आप 'थर्मामीटर' शब्द लीजिए। ग्रीक भाषा मे 'थार्मोस' का अर्थ गरम (घर्म) है; और मीटर का अर्थ है मात्रा। सो इसका संस्कृत या भारतीय रूप हो सकता है-घर्ममापक या घर्ममात्रा। इसी प्रकार 'बैरोमीटर' का हिन्दी-रूप 'भारमापक' या 'भारमात्रा' बन सकता है। हाइड्रोजन को हिन्दी में 'आर्द्रजन' कहते ही हैं। इन उदाहरणों से संस्कृत की विश्वव्यापकता का पता चलता है।

यूरोप के देश भारत से दूर हैं। पर एक समय ऐसा था, जब ईरानी और सप्तसिन्धु के निवासी एक साथ रहते थे, और पड़ोसी तो आज तक भी है। जब ये दोनो शाखाएँ साथ रहती थी, तो देवताओं के संबंध मे इनमे फूट पड़ गई। यह फूट बढ़ती गई और एक समय आया, जब ये भाई-भाई आपस मे मार-काट करने लगे। यहाँ तक कि एक के देवता दूसरे के शैतान और राक्षस बन गए। ऋग्वेद मे ईरानियों के लिए देवनिद्, देवशत्रु तथा देवहेडक शब्द काम में लाए गए हैं। प्रार्थना की गई है: 'सरस्वते, देवनिदो निवर्हय'—हे माता सरस्वती, देवताओ की निन्दा करने वालों को निकाल आदि। ऋग्वेद मे 'असुर' शब्द का अधिकाश ठौरो पर ईश्वर, देवता आदि अर्थ किया गया है। एक स्थान पर है: महाद्देवानामसुरत्वमेकम्'—अर्थात् देवताओ की महान दैवी शक्ति एक है। इससे आप पारसियों के परमात्मा के नाम 'अहुर मज्द' शब्द

का मिलान कीजिए। फारसी मे संस्कृत 'स' का 'ह' और संस्कृत 'ह' का 'ज' हो जाता है। हमारा 'बाहु' फारसी में 'बाजू' कहाता है। हमारा 'हस्त' ईरानी मे 'जस्त' और नई फारसी में 'दस्त' हो गया। भाषा शास्त्र के इस नियम के अनुसार 'अहुर मज्द' स्पष्टतः 'असुर महत्'* है। इससे यह बात खुली कि वेद मे ऐसा प्रमाण है कि कभी हिन्द-ईरानी शाखा के आर्य एक संस्कृति और सभ्यता रखते थे तथा साथ-साथ मिल कर रहते थे। वेद मे 'असुर्य' का अर्थ है 'दैवी', पर उपनिषदो में 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता' मे साफ है कि इस शब्द का अर्थ बदल गया। बाद का 'असुर' शब्द राक्षसों का बोधक बन गया। सुर और असुर शत्रु बन गए। ईरानी मे 'देव' का अर्थ हो गया 'राक्षस'। पारसियों की धर्म-पुस्तक अवेस्ता मे बार-बार यही प्रार्थना है कि 'हे अहुर मज्द, हमें इन देव-पूजको से बचाओ' आदि। यह हमारे तथा पारसियो के न्यारे हो जाने का इतिहास है। इसके बाद हमने अलग-अलग घर बसाए, पर संस्कृति मे विशेष अन्तर नहीं आया। स्थान, जलवायु, धार्मिक मतभेद, काल आदि के कारण शब्दो मे प्राकृत परिवर्तन होते गए, पर उनका रूप इतना न बदला कि वे एक दूसरे से अपरिचित रह जायें।

आजकल भी कई शब्द ऐसे हैं, जो हिन्दी या फारसी में प्रायः एक-से हैं। और सरदी हमे वैदिक काल की याद दिलाती है, जब 'जीवेम शरदः शतम्' (हम सौ साल जियें) की प्रार्थना हमारे पुरखा 'शरद' के नाम से इसलिए करते थे कि शरत्काल मे बहुत जाड़ा पड़ता था। इसी कारण वर्ष का नाम 'हिमा' पड़ गया था। यदि हम उर्द की दाल को 'माष' की दाल कहें तो माष फारसी मे भी है। मेघ के लिए 'मेह' शब्द अपभ्रंश भाषा मे–जो वास्तव मे हमारी हिन्दी की जननी है—बार-बार आया है। फारसी मे भी यह शब्द मेघ का 'मेह' हो गया। जवान को गुजराती में 'युवान' कहते हैं। फारसी और हिन्दी में नाम-मात्र का ही भेद रहा। अपभ्रश में 'दहमुहु' रावण का नाम है। दस के लिए 'दह' आया है। फारसी में दस के लिए यही शब्द है। हम 'सियाल' या 'सियार' के नाम से लोमडी को सम्बोधित करते हैं और फारसी मे शगाल

*मज्दा को कई यूरोपियन विद्वान मेधा का ईरानी रूप मानते हैं। इनकी युक्तियाँ भी ठोस हैं। पर इस लेखक का मत है कि *'मज्द' या 'मज्दा'* में महत् का बीज भी छिपा है।–ले०

कहकर। सचमुच में शगाल शब्द संस्कृत शृगाल के नजदीक है। फारसी फरिश्ता शब्द संस्कृत लफ्ज प्रेषित से बहुत हटा हुआ नहीं है। इस तरह सैकड़ों शब्द यहाँ दिए जा सकते हैं। क्यों? इसलिए कि आदि में संस्कृत और फारसी सगी बहनें थी और इन बहनों की वाणी प्रायः एक थी। इसलिए यदि हम सर्वराष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दों का आधार संस्कृत बनाएंगे, तो स्वभावतः ईरानी भी सर्वराष्ट्रीय भाषा बन जायगी।

प्रायः पचास वर्ष से ईरान में एक आन्दोलन चल रहा है। इसका उद्देश्य ईरानी आर्यता की रक्षा करना है। फारस के निवासी शीया मुसलमान हैं। सुन्नी भाई कहते हैं कि उन्होंने इस्लाम में बुत-परस्ती का बोलबाला कर दिया। विद्वानो का मत है कि पारसी मतावलम्बी ईरानियों पर तलवार के जोर से इस्लाम धर्म लादा गया। इसलिए विद्रोही ईरानियों ने इस्लाम मे मूर्तिपूजा घुसेड़ दी। अरब के वहाबी स्वयं मस्जिदों के कट्टर शत्रु हैं। इस दृष्टि से ईरान में इस्लाम धर्म का स्वरूप ईरानियों ने बिगाड़ दिया। भारत के पारसी, जो वास्तव मे हिन्दू-धर्म के 'अग्निहोत्री' अनुयायी है, ईरान मे फिर से आर्यत्व की भावना के पुनर्जन्म को प्रोत्साहित कर रहे हैं। खेद है कि हम लोग अपनी घोर सकीर्णता में ऐसे डूबे हैं कि हमे अपने पड़ोसी राष्ट्र ईरान की न तो चिन्ता है और न हम इतने उदार हैं कि ईरान को अपना भाई राष्ट्र समझकर उसकी गति-प्रगति का अध्ययन करें। यह क्या कम लज्जा का विषय है कि जिन अग्निपूजक पारसियो को हमने कभी शरण दी, उनके विषय में हमे पता ही नहीं है कि वे हमारे निकट-सम्बन्धी हैं। इसका समाचार हमे फ्रेंचो और अंग्रेजों ने दिया। सबसे पहले फ्रेंच विद्वान मोशिए घू पेरो ने अवेस्ता भाषा का अध्ययन किया। भारत मे नाना रोग, महान दरिद्रता और पग-पग पर रुकावटो का वीरता पूर्वक सामना कर इस खोजी ने जिस लगन से अवेस्ता का अध्ययन और मनन किया, वह करुण और वीररस से सनी गाथा स्वर्णाक्षरो से सबके हृदय में लिखी जाने योग्य है। इसी मनीषी की शोध से ईरानी आर्य-भाषा भारोपा अर्थात् इण्डो-यूरोपियन आर्य-भाषा-परिवार की मानी गई और प्रमाणित हुआ कि संस्कृत तथा ईरानी दो बहनें हैं। जर्मन विद्वान बौप ने भारोपा भाषाओं का तुलनामूलक व्याकरण लिखकर सिद्ध कर दिया कि वैदिक, प्राचीन संस्कृत तथा ईरानी भाषाएं विशुद्ध आर्य-भाषाएं हैं। इस काम मे कुछ पारसी विद्वानों ने—जैसे कामा, संजाना आदि ने—भी बाद को बड़ी सहायता पहुंचाई।

पारसियो के धार्मिक कृत्य भी प्राचीन आर्य-सभ्यता के द्योतक हैं। आर्य-सभ्यता के मूल मे दो अटल सिद्धान्त हैं—एक तो ज्ञान अथवा सत्य की निरन्तर शोध और दूसरा दूसरे की ज्ञान वा सत्य-गवेषणा का सम्मान। जो 'सत्यमेव जयते नानृतम्' कहा गया है, वह भारतीय ज्ञानियों का अनुभूत सिद्धान्त है। सूरज में बादल अधिक समय तक अंधेरा नही कर सकते। बादल अवश्य हटेंगे और भानु का प्रताप फिर जगत में अपनी महिमा फैलायेगा ही। यही बात सत्य की महिमा मे कही जा सकती है। और सत्य का असली रूप ज्ञान है। 'ज्ञानं ब्रह्म' जो कहा गया है, उसका यही अर्थ है। अब स्वराज्य आया है। स्वराज्य को हम तभी धारण कर सकेंगे, जब ज्ञान-रूपी सत्य के ज्वलन्त रूप का आह्वान कर सकेंगे और उसकी शोध के परिणाम को व्यवहार मे लायेंगे। इस क्षेत्र मे शत्रु-मित्र का प्रश्न ही नही उठता। राजनीतिक शत्रु को उसके आविष्कृत सत्य के लिए प्रणाम करना पडता है तथा अपने निकटतम मित्र के प्रचारित असत्य की कटु और तीव्र आलोचना करनी पडती है। ये सिद्धान्त पारसियो ने अपनाए हैं। हमे भी इन्हे फिर से ग्रहण करने की आवश्यकता है। कुछ भारतीय विद्वान इन सिद्धान्तों मे ओत-प्रोत हैं। आवश्यकता है कि स्वय जनता इनका समादर करे, तभी हम उन्नति कर सकते है और अपने निकटतम भाई पारसियो को पहचान सकते हैं। नही तो एक हिन्दी-पुस्तक मे, जो ऐतिहासिक निबन्धो का एक सग्रह है, लिखा है—"पारसी विवाह मे सस्कृत के श्लोक पढ़ते हैं···तथा गोमांस खाते है।" ये दोनो बातें असत्य और असगत है। पर उक्त ऐतिहासिक पुस्तक के कई संस्करण हो गए और इसके पाठक विद्यार्थियों मे असत्य का खूब प्रचार हो रहा है तथा यह भावना जड पकड रही है कि पारसी असुर है, क्योकि वे गोमांस खाते हैं तथा असभ्य रहे होगे, क्योकि उनके पास विवाह मे पढने-योग्य अपने स्वतन्त्र मन्त्र नही हैं, जो वे सस्कृत के श्लोक पढते हैं। किन्तु ये दोनो 'ऐतिहासिक तथ्य' असत्य हैं। पारसी गाय को परम पवित्र समझते हैं, उसे मारने का स्वप्न मे भी उनके मन मे विचार नही उठ सकता। उनके विवाह मे जो मन्त्र पढ़े जाते है, वे प्राचीन ईरानी भाषा मे होते हैं, जो सस्कृत की सगी बहन है। पर अपने देश की टेक्स्ट-बुक-कमेटियों मे जो महाविद्वान चुने या नियुक्त किए जाते हैं, उन्हे पहले तो इतना ज्ञान नही होता कि ऐसी भूल पकड़े। इस पर उनका मुंह भर दिया जाता है कि वे अपना बहुमूल्य मस्तिष्क ऐसी 'साधारण बातो' पर खर्च न करें। इस दशा मे अज्ञान या उलटे

ज्ञान के प्रचार द्वारा मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। अधिकांश हिन्दू समझते हैं कि पारसी हमारे भाई नही, बल्कि शत्रु हैं। तुलनामूलक संस्कृति तथा तुलनामूलक भाषा शास्त्र की दृष्टि से हिन्दी मे ईरानी सस्कृति और ईरानी भाषा की शोध का बहुत अधिक महत्व है।

'आस्तुये हुमतम् मनो, आस्तुये हुख्तम् वचो'—अर्थात् सुमत (खूब विचार-शील मन) की स्तुति करता हू और सूक्त वचन की प्रशंसा करता हू।

संस्कृत और हिन्दी के कुछ विस्मृत शब्द

जो भाषाएं जितनी प्राचीन होती हैं, उनके कई शब्द मर जाते हैं। कारण यह है कि कुछ शब्द भूले जाते हैं, कुछ का अर्थ स्मरण नही रहता, इस कारण ये निरर्थक शब्द भी किन्ही भाषाभाषियो की शब्द-सम्पत्ति से लुप्त हो जाते हैं। कभी कोई शब्द प्राचीन समय से भाषा मे व्यवहार मे आने के कारण रह तो जाता है; किन्तु उसका आख्यात उड़ जाता है। ऐसे शब्द वैदिक और संस्कृत मे कई हैं। वर्तमान हिन्दी का **धन** शब्द ही लीजिए, हम बहुधा **धनी, धन्ना सेठ, धन्दा** आदि कई शब्द काम मे लाते हैं; किन्तु इसकी मूल धातु का, अथवा कहिए इसके आ-ख्या-त का हमको पता नही है। इस धन शब्द के विषय मे हमारे कोशकार केवल इतना ही बताते हैं कि यह शब्द सस्कृत है। संस्कृत-कोश भी संस्कृत में इसका कोई आख्यात न मिलने के कारण ठीक व्याख्या नही कर सकते। **बाबावाक्यं प्रमाणम्** का अपने देश मे बहुत अधिक प्रचार होने के कारण स्वयं संस्कृत के पडित यही पर्याप्त समझते हैं कि उक्त शब्द संस्कृत में प्रयुक्त हुआ है। इस कारण, इसका मूल ढूढ़ने की कोई आवश्यकता नही। इस समय हम धडल्ले से **धन** का अर्थ प्राय इस प्रकार करते हैं—१ रुपया-पैसा, जमीन-जायदाद इत्यादि सम्पत्ति, द्रव्य, दौलत। २ किसी *व्यक्ति के अधीन चौपायो के झुड; गाय, भैंस आदि गोधन।* ३. स्नेहपात्र, अत्यन्त प्रिय व्यक्ति, जीवन-सर्वस्व। ४. गणित में जोडी जाने वाली संख्या या जोड का चिन्ह। ५. मूल, पूंजी।

किन्तु ऋग्वेद मे **धन** के अर्थ 'युद्ध मे विजित सम्पत्ति, लूट का धन' आदि है। संस्कृत मे **धन** धातु भी है, बल्कि तीन प्रकार की धन् धातुए है। इनमे से एक का भी अर्थ 'सम्पत्ति अर्जन करना' नही है। ऋग्वेद मे **प्रधन** का अर्थ है 'युद्ध'। हम जानते ही है कि संस्कृत मे **मृत्यु** को **निधन** कहते हैं। **धन्वन**

सस्कृत में 'मरुभूमि' का नाम है। मरुभूमि उस उजाड़ और रेतीले स्थान को कहते है, जहाँ अन्न और जल बहुत कम दिखाई देते हैं। अकेले-दुकेले आदमी अन्न जल न पाकर तथा भटक-भटक कर मरीचिका मे मर जाते हैं। इसीलिए इसका एक नाम मरुभूमि भी है। इसका आख्यात मृ 'मरना' है। धनुर और धनुष जीवों को मारने वाले हथियार है। इन सबसे यह सिद्ध होता है कि कभी सुदूर अतीतकाल मे, चौथी धन धातु भी सस्कृत-भाषा में वर्तमान रही होगी, जिसका अर्थ 'मरना-मारना' रहा होगा। यह धातु आदि आर्य-भाषा में भी रही होगी; क्योंकि इसका प्रतिरूप ग्रीक भाषा में थेन् 'मरना-मारना' है। यह बात भी समझ लेनी चाहिए कि ग्रीक और लैटिन का ए स्वर वैदिक और सस्कृत मे अ रूप मे मिलता है। हमारा अस्ति ग्रीक-भाषा मे एस्ति रूप मे मिलता है और अस्मि का एस्मि हो जाता है। इस खोये हुए आख्यात के मिलने से हम पर गीता मे भगवान कृष्ण द्वारा प्रयुक्त धनञ्जय शब्द का अर्थ भी खुल जाता है। अर्जुन धन के लोभ में कभी न भटका, न उसे जूए में धन जीतने की इच्छा रही। वह वीर था, उसने अनेक युद्धों मे विजय प्राप्त की थी। इस कारण, धनञ्जय का अर्थ है-'युद्ध मे विजय प्राप्त करनेवाला और इस विजय से शत्रु की सम्पत्ति प्राप्त करने वाला' इस धन शब्द ने कितने चक्कर काटे होगे कि युद्ध और लूट की सम्पत्ति से इसका एक अर्थ 'जीवन-सर्वस्व' हो गया है। प्राचीन हिन्दी, मारवाड़ी और कुमाउनी मे धनि शब्द मिलता है, जिसका अर्थ है 'घर की लक्ष्मी, घर की जीवन-सर्वस्व, पत्नी।' इसके साथ कहीं इसका अर्थ 'स्वामी' भी होता है। इस शब्द का प्राचीन अर्थ और लुप्त आख्यात धन् 'मरना-मारना' हमारी बुद्धि को चकाचौंध मे डाल देता है। शब्दों के अर्थ-विस्तार का नियम भाषा-विज्ञान मे महत्व का स्थान रखता है। गीता के प्रमुख शब्द का अर्थ 'मुख के सम्मुख' था। गीता में है-तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः। अर्थात्, 'धृतराष्ट्र की सन्तति और सेना हमारे सम्मुख खड़ी है।' तब के और अब के अर्थ का मिलान कीजिए, तो पता चलेगा कि इन दोनों अर्थों मे आकाश और पाताल का अन्तर है।

कुछ शब्द, जिनकी व्युत्पत्ति खो-सी गई है, गण गणपति तथा ग्ना हैं। इन शब्दो का प्रयोग स्वयं ऋग्वेद मे मिलता है; किन्तु इनकी व्युत्पत्ति किस आ-ख्या-त से है, इसका पता मिलना कठिन हो रहा है। कारण स्पष्ट है। आदि आर्यभाषा का आविष्कार और संसार की आर्यभाषाओं का पता चलाना प्रायः दो सौ वर्षों से आरम्भ हुआ है। इस शोध ने आर्य-

भाषाओं के शब्दो के अर्थ और उनकी व्युत्पत्ति को बहुत सुलझा दिया है। स्वय वैदिक और संस्कृत-भाषाओ के कठिन शब्दो की गुत्थियों को भी संवार दिया है। जर्मन-महापंडित और सात बड़े-बड़े खण्डो मे प्रकाशित संस्कृत के सुप्रसिद्ध 'सेंट पीटर्स बुर्गर संस्कृत-जर्मन-कोश' के सम्पादक रोट महाशय ने ठीक ही कहा है कि तुलनात्मक भाषाविज्ञान ने अर्थ और व्युत्पत्तियो के सुधारने के सम्बन्ध मे आश्चर्यजनक काम किया है। सायण की टीका को पढकर हमने वेदों का अर्थ लगाना सीखा; किन्तु कुछ ही वर्षों के बाद अब हम देख रहे हैं कि केवल भारतीय आर्यभाषाओं को जानने के कारण उसकी टीका मे अनगिनत भूलें हैं। यह बात उक्त शब्दो की व्युत्पत्ति और अर्थ के सम्बन्ध में भी लागू होती है वेदो मे उक्त शब्द मिलते है; किन्तु उनका आख्यात नही पाया जाता। इस कारण, ठीक अर्थ लगाना कठिन हो जाता है। परम्परा से आया हुआ अर्थ ही लगाया जाता है। हिन्दी मे **गणतन्त्र** का अर्थ 'जनतन्त्र' है, जो ठीक है। **गणपति** को **गणेश** भी कहते हैं, जो **लम्बोदर, एकदन्त** और **गजबदन** है। *उनका एक नाम* **गणाध्यक्ष** *भी है, जो वैदिक* **गणपति** *की परम्परा मे* आया है। मूषकवाहन गणेश की मूर्ति देखकर कुछ भारतीय और योरोपीय विद्वान बताते हैं कि यह विकटमूर्ति गणेश कोई अनार्य देवता रहे होंगे और आर्यों ने इस अनार्य देवता को अपना लिया होगा। **गण** का ठीक-ठीक अर्थ न समझने के कारण **गणपति** की भी दुर्दशा हो रही है। वास्तव मे, यह भूल इसलिए हुई है कि भारत मे **गण** का आख्यात वेदो से पहले ही नदारद हो चुका था। इस आख्यात को आदि आर्यभूमि से योरोप की तरफ जाने वाले आर्य अपने साथ ले गये और न भूले। ग्रीक-भाषा में **गेन्** धातु का अर्थ 'जन्म देना' है। अंग्रेजी जानने वाले पाठक जानते ही होंगे कि योरोप के कई देशो मे यह **गेन्**, **जेन्** हो गया है। अंग्रेजी मे एक शब्द **प्रोजेनी** है, जिसका अर्थ है 'प्रजा, सन्तति'। हमारा **प्रजनन** शब्द भी प्र-जन (=भारतीय जन)'जन्म देना' से निकला है। **ग** के स्थान पर स्वय वै० और स० मे **ज** हो जाता है। **गगाम** मे **जगाम** के स्थान पर पहले **ग** का **ज** हो गया है। **जगत्** भी इसी प्रकार का एक रूप है। अंग्रेजी, फ्रेंच और इटालियन मे g के बाद e अक्षर आने पर g का उच्चारण ज हो जाता है। इस कारण, अब ऐसी g से आरम्भ होने वाले शब्द ज से उच्चारित किये जाते है और उनकी ध्वनि संस्कृत से मिलती है। फलत. **गेन्** इन योरोपियन देशो में **जन** और **जेन** हो गया है। यह **गेन्** धातु भारत मे पहुंचकर **जन** हो गई; किन्तु कुछ रूप प्रारम्भिक **ग** के भी रह गये। उक्त रूप

ऐसे ही हैं। गण का अर्थ 'एक ही वंश में पैदा होने वाले या जाति' है। जन का अर्थ भी पहले 'एक जाति में उत्पन्न जन' ही था। बुद्ध भगवान के समय के गणतन्त्र नाना जातियों के अपने-अपने होते थे। मल्लों का अपना गणतन्त्र था, वज्जियों का अपना। इसका आख्यात भूल जाने के कारण हम न समझ सके कि उक्त शब्दों की व्युत्पत्ति क्या है। आख्यात का अर्थ शब्द का वह अक्षर या संयुक्त अक्षर है जो उसका अर्थ खोल देता है। संस्कृत में प्रत्येक शब्द के भीतर उसका आख्यात रहता है जो अर्थ स्पष्ट कर देता है। गणपति ऋग्वेद में हमारे वर्तमान विनायक के रूप मे नही हैं। वे गणतन्त्र-राज्य के एक पति या अध्यक्ष माने गये हैं। ऋग्वेद ११२।९ में कहा गया है–निषुसीद गणपते गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्; अर्थात् 'हे गणपति, तू गणो (गणतंत्रो के) ऊपर अध्यक्षता कर।' (सबके ऊपर सुन्दर भाँति बैठ)। एक सूक्त का यह भी अर्थ है--'गणो के तुझ गणपति का आह्वान करते हैं। निधियों के तुझ निधिपति को आदर के साथ बुलाते हैं। जो हमारे प्रिय है, उनके प्रियपति तेरा अभिनन्दन करते हैं।' इसमे पाठक वैदिक गणपति का सच्चा स्वरूप देखेंगे। यहाँ गण का अर्थ 'जनतन्त्र' और गणपति का अर्थ 'राष्ट्रपति' है। ग्ना (देवताओ की स्त्री) भी इसी गेन् धातु का एक रूप है। इसका अर्थ है 'जन्म देने वाली'। सो, घन के ग्रीक-रूप थेन् की भाति जन का गेन् रूप भी भारत मे नही, ग्रीक-देश मे मिलता है। यह रूप भारत में विस्मृति के गर्भ में लीन पड़ा हुआ है। आर्यभाषाओ का तुलनात्मक विज्ञान हमे बताता है कि घन ग्रीक थेन् और जन आदि आर्य गेन् के रूप हैं।

उक्त धातुओ के समान ही गो 'पृथ्वी' भी आदि आर्य शब्द है, जो भारत तक पहुँचा है। इस गो को ग्रीक लोग गेओ कहते हैं, जिसे हम Geography (जीओग्रैफी) 'भूगोल' मे पाते हैं। जैसा कहा गया है, अंग्रेजी में g के बाद e आने से g का उच्चारण ज हो जाता है; किन्तु अंग्रेजी भाषा की बिरादरी की भाषा जर्मन मे उक्त अंग्रेजी शब्द ही चलता है। इसका उच्चारण किया जाता है गेओग्राफी। अवेस्ता में भी यह शब्द गेउस् रूप में मिलता है। इसका अर्थ भी 'जगत' है। इस शब्द की व्युत्पत्ति भी विस्मृति के गर्भ में लीन है। सभवतः, गो शब्द जगत् की भाँति गम् धातु का रूप हो।

उक्त विस्मृत धातुओ के साथ-साथ दो संज्ञा-शब्द भी विस्मृति के गर्भ मे खर्राटे भर रहे हैं। कहा जाता है कि 'काश्मीर' का नाम मूल में

काश्यप-मीर था। इसका अर्थ था—काश्यप ऋषि का तालाब या समुद्र। मीर शब्द एक-दो स्थान पर संस्कृत-व्याकरणो मे रह गया है। यह शब्द योरोप मे आज भी जीवित है। जर्मन लोग सागर को Meer (मीर) कहते हैं। फ्रेंच-भाषा मे भी mer का अर्थ 'सागर' ही है। अंग्रेजी में जलसेना को Marine कहते हैं। जहाजो के व्यापार-सम्बन्धी को 'Maritime' कहते हैं। बम्बई मे मेरीन ड्राइव और मेरीन लाइन दो सुन्दर सडको के नाम हैं। रूसी मे समुद्र के लिए Mora शब्द है। यह शब्द योरोप के सभी देशो मे मिलता है। भारत मे यह शब्द नाम मात्र काम मे आया है। इस समय अपने भारतीय रूप मे केवल काश्-मीर मे ही मिलता है। लैटिन मे इस शब्द का रूप मारे है। इटालियन मे आज भी समुद्र को 'मारे' कहते है। इससे यह मालूम पडा कि मीर शब्द आर्यो के भारत पहुचने तक व्यवहार में आता था। आर्य इसे अपने साथ लाये। भारत मे इसका प्रचलन आरम्भ से ही कम होने लगा। इस कारण व्यवहार मे इसका लोप हो गया और व्याकरणो तथा कोषो मे यह मुरदा-सा पडा रह गया। जनता जिन शब्दो को किसी-न-किसी कारण से ठुकरा देती है, उनका विलोप होना अवश्यम्भावी है। इस कारण 'काश्मीर' के मीर शब्द का प्रयोग इस समय मर गया है, किन्तु कभी यह विशुद्ध आर्यशब्द भारत मे भी चलता था। इसका प्रमाण काश्-मीर शब्द है।

चीन ने तिब्बत को पछाडा और तिब्बत पर अपना अधिकार जमा लिया, खम्पा बहुत दिनो तक चीन के साथ लडते रहे; किन्तु तिब्बत की आबादी चीन की अपार जनसख्या के सामने चीटी के बराबर थी। इस कारण तिब्बत चौपट हो गया। तिब्बत में भारतवासियो के पवित्र तीर्थ कैलास और मानसरोवर हैं। मानसरोवर का नाम और भारतीय साहित्य मे उसका बार-बार उल्लेख और आदर बताता है कि इस पवित्र सरोवर का नामकरण भारतीय आर्यों ने किया। तुलसी के 'रामचरितमानस' मे इसी मानसरोवर का रूपक बाँधा गया है। अपने शास्त्रो और पुराणो मे इस सरोवर की मनोहर गाथा गाई गई है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि कभी यह स्थान भारत के अधीन रहा होगा। इसके पास ही कैलास की चोटी शोभायमान है। यह कैलास शब्द कुछ विचित्र-सा लगता है। कभी हिन्दी की परम्परा मे इस शब्द की सुरक्षा की गई थी। प्राचीन हिन्दी के कवि स्वर्ग को कविलासु कहते थे और इस कविलासु का अर्थ 'कैलास' था। धर्मप्राण हिन्दू-जनता

कैलास को शिवजी का सिहासन समझती थी। इस कारण, यह शिवलोक स्वर्ग ही था। यह सब हम लोगों को मालूम ही है। जायसी ने लिखा है—

सुमरौं आदी एक करतारू। जे जिव दीन्ह कीन्ह संसारू॥
कीन्हेसि प्रथम ज्योति परगासू। कीन्हेसि तिनहि प्रीति कैलासू॥

यहाँ कैलासू अथवा कविलासू का अर्थ 'स्वर्ग' है।

अब आश्चर्य देखिए कि लैटिन मे आदि आर्यभाषा का एक शब्द कएलुम पाया जाता है, जिसका अर्थ 'स्वर्ग' है। नपुसकलिंग होने के कारण मूल शब्द कएल मे नपुसकलिंग का चिन्ह उम जोड़ दिया गया है। यह कएल शब्द फ्रेंच-भाषा मे ciel (सिएेल) हो गया है। इस सिएेल का अर्थ भी 'स्वर्ग' ही है। जब आर्यजाति की एक शाखा ईरान के पहाड़ो मे जीवन-निर्वाह कठिन होने के कारण भारत आई, तब वह ऊपर-ही-ऊपर पहाडी रास्ते से यहाँ आई। इस बात के प्रमाण प्राचीन आर्यभाषा में दिशाओ के नाम हैं। अब देखिए, आर्य पश्चिम से आये। पश्चिम सूर्यास्त की दिशा है। इस पश्चिम शब्द का अर्थ 'पीछे या पीठ की ओर' है। कुंमाउनी भाषा मे पश्चिम का पच्छिम होकर आजकल की कुमाउनी मे पछिन हो गया है। प्राकृत में सस्कृत शब्द पश्चा या पश्चात का पच्छा हो गया था। इसका रूप कुमाउनी मे पछा 'बाद' और पछाँ 'पीछे, पश्चिम को' है। यह पश्चिम शब्द हिन्दी मे पीछे हो गया है। सस्कृत मे इसका एक और नाम प्रतीची है; इसका अर्थ 'विरुद्ध दिशा' है अर्थात्, जब आर्य भारत को आ रहे थे, तब वे पूर्व की दिशा की ओर बढ रहे थे। अर्थात्, उस ओर आ रहे थे, जहाँ से सूर्य उगता है। इस कारण प्रतीची, अर्थात् विरुद्ध दिशा, पश्चिम का नाम पडा।

पाजिटर साहब ने पुराणो का अध्ययन करके यह निदान निकाला है कि आर्य भारत मे मैदान के रास्ते नही आये। वे उत्तर के पहाड़ी रास्ते से ही भारत पहुंचे। आर्यों का पहला दल 'काश्मीर' में रुक गया, दूसरा दल कुलू-कांगड़ा मे बसा। तीसरा तथा अन्तिम दल कुमाऊ के दर्रों से आकर वहाँ के पहाडो में बस गया। अगर इस दृष्टि से देखा जाय, तो कुमाऊ तक के पहाडो मे बसे ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि मूल आर्यों की संतान हैं। यहाँ से फिर आर्य पहाड़ों के नीचे के मैदानो में जाकर बस गये।

काश्यप-मीर था। इसका अर्थ था—काश्यप ऋषि का तालाब या समुद्र। मीर शब्द एक-दो स्थान पर संस्कृत-व्याकरणो मे रह गया है। यह शब्द योरोप मे आज भी जीवित है। जर्मन लोग सागर को Meer (मीर) कहते हैं। फ्रेंच-भाषा में भी mer का अर्थ 'सागर' ही है। अग्रेजी मे जलसेना को Marine कहते हैं। जहाजो के व्यापार-सम्बन्धी को 'Maritime' कहते हैं। बम्बई मे मेरीन ड्राइव और मेरीन लाइन दो सुन्दर सडको के नाम हैं। रूसी मे समुद्र के लिए Mora शब्द है। यह शब्द योरोप के सभी देशों में मिलता है। भारत मे यह शब्द नाम मात्र काम में आया है। इस समय अपने भारतीय रूप मे केवल काश्-मीर मे ही मिलता है। लैटिन मे इस शब्द का रूप मारे है। इटालियन मे आज भी समुद्र को 'मारे' कहते है। इससे यह मालूम पड़ा कि मीर शब्द आर्यों के भारत पहुचने तक व्यवहार मे आता था। आर्य इसे अपने साथ लाये। भारत मे इसका प्रचलन आरम्भ से ही कम होने लगा। इस कारण व्यवहार मे इसका लोप हो गया और व्याकरणो तथा कोषो मे यह मुरदा-सा पडा रह गया। जनता जिन शब्दों को किसी-न-किसी कारण से ठुकरा देती है, उनका विलोप होना अवश्यम्भावी है। इस कारण 'काश्मीर' के मीर शब्द का प्रयोग इस समय मर गया है; किन्तु कभी यह विशुद्ध आर्यशब्द भारत मे भी चलता था। इसका प्रमाण काश्-मीर शब्द है।

चीन ने तिब्बत को पछाडा और तिब्बत पर अपना अधिकार जमा लिया, दम्पा बहुत दिनो तक चीन के साथ लड़ते रहे; किन्तु तिब्बत की आबादी चीन की अपार जनसख्या के सामने चीटी के बराबर थी। इस कारण तिब्बत चौपट हो गया। तिब्बत मे भारतवासियो के पवित्र तीर्थ कैलास और मानसरोवर हैं। मानसरोवर का नाम और भारतीय साहित्य मे उसका बार-बार उल्लेख और आदर बताता है कि इस पवित्र सरोवर का नामकरण भारतीय आर्यों ने किया। तुलसी के 'रामचरित्रमानस' मे इसी मानसरोवर का रूपक बाँधा गया है। अपने शास्त्रो और पुराणो मे इस सरोवर की मनोहर गाथा गाई गई है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि कभी यह स्थान भारत के अधीन रहा होगा। इसके पास ही कैलास की चोटी शोभायमान है। यह कैलास शब्द कुछ विचित्र-सा लगता है। कभी हिन्दी की परम्परा मे इस शब्द की सुरक्षा की गई थी। प्राचीन हिन्दी के कवि स्वर्ग को कविलासू कहते थे और इस कविलासू का अर्थ 'कैलास' था। धर्मप्राण हिन्दू-जनता

कैलास को शिवजी का सिंहासन समझती थी । इस कारण, यह शिवलोक स्वर्ग ही था । यह सब हम लोगों को मालूम ही है । जायसी ने लिखा है—

सुमरौं आदी एक करतारू । जे जिव दीन्ह कीन्ह संसारू ॥
कीन्हेसि प्रथम ज्योति परगासू । कीन्हेसि तिनहि प्रीति कैलासू ॥

यहाँ कैलासू अथवा कविलासू का अर्थ 'स्वर्ग' है ।

अब आश्चर्य देखिए कि लैटिन में आदि आर्यभाषा का एक शब्द कएलुम पाया जाता है, जिसका अर्थ 'स्वर्ग' है । नपुसकलिंग होने के कारण मूल शब्द कएल में नपुसकलिंग का चिन्ह उम जोड़ दिया गया है । यह कएल शब्द फ्रेंच-भाषा मे ciel (सिएेल) हो गया है । इस सिएेल का अर्थ भी 'स्वर्ग' ही है । जब आर्यजाति की एक शाखा ईरान के पहाड़ो में जीवन-निर्वाह कठिन होने के कारण भारत आई, तब वह ऊपर-ही-ऊपर पहाड़ी रास्ते से यहाँ आई । इस बात के प्रमाण प्राचीन आर्यभाषा मे दिशाओं के नाम हैं । अब देखिए, आर्य पश्चिम से आये । पश्चिम सूर्यास्त की दिशा है । इस पश्चिम शब्द का अर्थ 'पीछे या पीठ की ओर' है । कुमाउनी भाषा मे पश्चिम का पच्छिम होकर आजकल की कुमाउनी मे पछिन हो गया है । प्राकृत मे सस्कृत शब्द पश्चा या पश्चात का पच्छा हो गया था । इसका रूप कुमाउनी मे पछा 'बाद' और पछौ 'पीछे, पश्चिम को' है । यह पश्चिम शब्द हिन्दी में पीछे हो गया है । सस्कृत मे इसका एक और नाम प्रतीची है; इसका अर्थ 'विरुद्ध दिशा' है अर्थात्, जब आर्य भारत को आ रहे थे, तब वे पूर्व की दिशा की ओर बढ़ रहे थे । अर्थात्, उस ओर आ रहे थे, जहाँ से सूर्य उगता है । इस कारण प्रतीची, अर्थात् विरुद्ध दिशा, पश्चिम का नाम पड़ा ।

पार्जिटर साहब ने पुराणों का अध्ययन करके यह निदान निकाला है कि आर्य भारत मे मैदान के रास्ते नहीं आये । वे उत्तर के पहाड़ी रास्ते से ही भारत पहुँचे । आर्यों का पहला दल 'काश्मीर' मे रुक गया, दूसरा दल कुलू-काँगड़ा मे बसा । तीसरा तथा अन्तिम दल कुमाऊ के दर्रों से आकर यहाँ के पहाड़ों में बस गया । अगर इस दृष्टि से देखा जाय, तो कुमाऊ तक के पहाड़ों मे बसे ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि मूल आर्यों की सतान हैं । यहाँ से फिर आर्य पहाड़ो के नीचे के मैदानों मे जाकर बस गये ।

अब और तमाशा देखिये। शब्द कभी-कभी बहुत बड़े रहस्य के भीतर छिपे हुए तथ्यों का परदा खोल देते हैं। उत्तर शब्द लीजिए। उत्तर का अर्थ है 'उत्तर दिशा'। उत्तर शब्द के दो भाग हैं। ये हैं उद्-तर। उद् का अर्थ होता है 'ऊँचा' और तर का अर्थ होता है, 'उससे भी ऊँचा'। इसका अर्थ आर्यों ने यह लगाया कि हम जिस पहाड़ी रास्ते से आगे बढ रहे हैं, उस पहाड़ से हमारी बाँई ओर उससे भी ऊँचा पहाड़ है। उन्होने अपने रास्ते मे सर्वत्र हिमालय देखा और उसे, जिस पहाडी रास्ते से वे आ रहे थे, उससे बहुत अधिक ऊँचा पाया। इस कारण, इस हिमालय की ओर की दिशा का नाम रखा उद्-तर=उत्तर। ऋग्वेद मे दक्षिण दिशा के न्यड् या अवाड् नाम भी दिये गये हैं। इन दोनो शब्दों का अर्थ है—'वह दिशा, जो पहाड़ो के नीचे है'। स्वय दक्षिण शब्द का अर्थ 'दाहिना' है। जब आर्य आरम्भ मे भारत की ओर आये, तब उनकी दाहिनी तरफ नीची भूमि थी, इस कारण इस दिशा का नाम दक्षिण पडा।

शब्दों का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण होने पर वे इतिहास की बड़ी-बडी गुत्थियो को भी सुलझा देते है और परदा खोलकर हमारी आंखो के सामने सत्य का सूर्य प्रकाशित कर देते है। हमे ऊपर की बातो से यह भी पता चला कि कैलास का नामकरण आर्य-भाषाभाषियो ने किया। कभी कैलास हमारा था। मुसलमान और अगरेजो की विजय के बाद हमे कैलास की यह सुध न रही कि कैलास और मानसरोवर कभी भारतीय आर्यों के अधीन थे।

हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता

नाना भाँति राम अवतारा ।
रामायन सत कोटि अपारा ॥
हरि अनत हरिकथा अनंता ।
कहहिं सुनहिं बहुविधि सब संता ॥ तुलसी

जब तुलसीदास ने ऊपर की पंक्तिया लिखी होगी, उन्हे कुछ रामायणों का पता अवश्य होगा । बाल्मीकि रामायण उन्होंने पढी ही होगी, महाभारत मे जो रामायण का सार है वह भी देखा होगा । सयभु और पुष्पदंत की रामायणो का पारायण अवश्य किया था क्योकि रामचरित मानस मे साफ लिखा है—

कलि के कविन करउं परनामा ।
जिन बरने रघुपति गुनग्रामा ॥
जे प्राकृत कवि परम सयाने ।
भाषा जिन हरि चरित बखाने ॥

इन चौपाइयो मे तुलसीदास ने महाकवि सयंभु और पुष्पदंत को प्रणाम किया है जिन्होने 'हरिचरित' के नाम से राम के गुण गाये हैं । सयंभु की रामायण की ग्वालियर वाली हस्तलिखित प्रति गोस्वामी तुलसीदास की मृत्यु तिथि से ५९ वर्ष पूर्व की लिखी मिली है । यह ग्रन्थ उन्होंने अवश्य ही देखा था और वे इस निदान पर पहुंचे थे कि वे कवि 'परम सयाने' अर्थात् परम (म) ज्ञानी थे । अन्य कौन सी 'रामायण' या 'हरिकथायें' देखी इसका पता नहीं किन्तु यह निश्चित है कि 'सत कोटि अपारा' रामायण न होने पर भी जगत मे रामायणो का विस्तृत जाल बिछा हुआ पाया जाता है ।

स्वयं ऋग्वेद मे राम शब्द आया है किन्तु इसमें राम का अर्थ रात है। रम् धातु का अर्थ आराम करना है। रात को सब प्राणी सो कर विश्राम करते है इस कारण रात का नाम राम है और इसी अर्थ मे इसका स्त्रीलिंग रूप रामी भी मिलता है। रात काली होती है और दिन की तुलना मे चादनी रात भी श्याम लगती है, सम्भवतः इसलिये विष्णु, राम और कृष्ण का रग काला माना गया है और श्याम नाम इसी वैदिक प्रयोग का फल हो तो कुछ आश्चर्य नही।

एक रामायण बौद्ध जातको मे पायी जाती है। वह कोई महाकाव्य नही है। केवल एक जातक है जिसका नाम दशरथ जातक है। फौसवोएल साहब ने बौद्ध जातको का प्रामाणिक सस्करण निकाला है। उसमें इन जातकों की सख्या ४६१ है। कई यूरोपीय विद्वान इसे मूल रामायण मानते हैं। उनका मत है कि इस दशरथ* जातक ने ही विस्तार लेकर संस्कृत रामायण का वृहत् रूप धारण किया। इसमें सन्देह नही कि बाल्मीकि रामायण पर बौद्ध प्रभाव अवश्य पडा है, क्योकि उसमें श्रावस्ती, राजगृह और कौशाबी नगरो का वर्णन पाते है। इस विषय पर स्व० हरप्रसाद शास्त्री ने यथेष्ट प्रकाश डाला है। ये नगर बौद्ध धर्म और साहित्य से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। भर्हुत और साची के स्तूपो के बाहर इस जातक की कहानी के नाना चित्र खुदे हुए हैं। इस दशरथ जातक से पता चलता है कि इसके निर्माण काल तक रामायण महाकाव्य का पूरा और निश्चित रूप नही बना था। इस जातक मे लंका के राक्षसों का नाम नही है और सीता दशरथ की कन्या बतायी गई है। इसलिए ही यूरोपीय पण्डित कहते हैं कि इस बौद्ध जातक के समय तक रामायण नही बनी थी। तथापि एक रामायण यह भी थी जिसे बौद्ध रामायण कहा जा सकता है।

वाल्मीकि रामायण ईसा की दूसरी शती में बनी ऐसा प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् वेबर का मत है। यह रामायण कही मध्य भारत के आस पास लिखी गयी और चारो तरफ भारत भर में फैल गयी। राम का माहात्म्य इसने सर्वत्र

---

* यह जातक चौथे खन्ड के पृष्ठ १२३ से १३० तक में आ गया है। इस दृष्टि से यह बहुत छोटी कथा है। मध्य एशिया के मितान्नि राजाओं में भी दशरथ का नाम दुशरत्त पाया जाता है।

बिखेर दिया। यही वह पहली रामायण थी जिसके विषय मे कहा जा सकत है—'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुराण स्तुति सारा'। इसी ने हिन्दू जगत में पहले पहल राम के गुण गाये। वाल्मीकि बाल्हीक देश के बताये जाते हैं। किन्तु बलख या बैक्ट्रिया मे यह वेदों के समय रहे थे। क्या रामायण उस समय बनी थी? इसके प्रमाण अभी तक अप्राप्य हैं। जो हो, प्रमुख रामायण यही है जिसके लिए तुलसी ने अपना आभार आरम्भ मे ही 'रामायणे निगदितं' कह कर माना है।

राम का नाम मिस्र में भी मिलता है। वह बौद्ध काल से भी पुराना है। मिस्र मे आर्य लोग गये थे, उन्होंने नील नदी का स्रोत ढूढ निकाला था, इसके कुछ प्रमाण है। यह तो ऐतिहासिक तथ्य है कि एक विशुद्ध आर्यजाति खत्ति का राज साढे तीन हजार साल पहले टर्की मे था और उसकी राजधानी भी अकारा मे थी। इस जाति ने मिस्र मे चढाई की, इससे इतना निदान निकलता है कि मिस्र से आर्यो का सम्पर्क रहा। वहाँ साढ़े तीन या चार हजार वर्ष पहले हिक्कास वंश राज करता था। गायकवाड़ की भाति यह वश ग्वालों का था, हम जानते ही हैं कि इक्ष्वाकु वंश मे राजा दिलीप ने वशिष्ठ ऋषि की गाय नंदिनी चरायी। इसमें इक्ष्वाकु वश के गोपालक होने का प्रमाण मिलता है। मिस्र के हिक्साम वंश मे एक वीर शिरोमणि राजा राम्सस् अथवा रामेश जन्मा। इसने महान पराक्रम दिखाया और जिस युद्ध मे गया उसमे शत्रुओं के दात खट्टे कर दिये तथा त्राहि त्राहि मचा दी। रामायण के राम के लिए जो कहा गया है :—

द्विरशरं नाभिसंधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते।

यह इस रामेश के विषय में भी सत्य है। इस महावीर का रथ और वाण प्रसिद्ध है। इसके रथ सहित चित्र पत्थर में खुदे पाये गये हैं जिनमे वाण की डोरी कान तक खीची गयी है और यह राम शत्रुओं मे विध्वस मचा रहा है। इसके चित्र देख कर राम की स्मृति ही जाग उठती है। इसकी गुणगाथा मिस्रवालो ने पत्थरो मे खोद कर तथा पापिरूस के कागज मे लिख रखी है जो मिस्र की रामायण है।

राम की महिमा दक्षिणी अमेरिका के आदि निवासी भी जानते है। इन्द्र, गणेश आदि का वहा बड़ा महात्म्य है। सूर्य की पूजा भी सर्वत्र होती

ही थी। उनके एक उत्सव का नाम ही रामलीला की भांति राम मिलता है।

सिलव्या लेवी चीनी भाषा, पाली संस्कृत आदि के परम पंडित थे, १९०३ में चीन में उन्हें १२१ अवदान मिले। इनमें से पहले अवदान में रामकथा थी। इस ग्रन्थ का सम्पादन चीनी पंडित की-किअ ये ने किया था। यह ४७२ ईस्वी मे लिखी गयी थी। कई बातों मे यह दशरथ-जातक की कथा से मिलती है क्योंकि इसमे सीताहरण का वर्णन नही है और राम की लंका पर चढाई का उल्लेख है। यह बौद्ध कथा है और बौद्धो द्वारा ही चीन पहुंची। इसमे केवल राम और लक्ष्मण के बनवास की कथा है और अवधि पूरी होने पर वे अयोध्या लौट आते हैं। इस रामायण में, दशरथ, राम और लक्ष्मण के नामों का रूप चीनी हो गया है। दशरथ को इसमें चेउ-चे, राम को लो-मो और लक्ष्मण को लो-मन लिखा गया है। चीनी में र अक्षर नही होता, उसके स्थान पर ल हो जाता है। सो यहाँ वही हुआ है। चीन में यह परिवर्तन सभी विदेशी नामो मे कर दिया जाता है।

इधर चीन मे एक और रामायण मिली जो शकदेश मे प्राप्त हुई है। इसका अनुवाद २२२-२८० ईस्वी के बीच किया गया था। इसमे केवल दशरथ जातक का अनुवाद नही है। यह रामायण यद्यपि जातक कथाओ के संग्रह मे ही प्राप्त हुई है और यद्यपि इसमे रामायण के पात्रो के नाम बदल दिये गये हैं तो भी स्पष्ट है कि इसकी कथा बाल्मीकि की रामायण के समान है। इसके प्राप्त होने से जर्मन विद्वान वेबर के इस मत का खन्डन हो जाता है कि रामायण दूसरी शती में कही मध्यभारत मे लिखी गयी थी और वह वहा से चारों ओर भारत में फैली। इस रामायण मे बाल्मीकि की कथा का पूरा आयतन है। राम और सीता का बनवास, रावण द्वारा जानकी का अपहरण, रावण-जटायु युद्ध, सुग्रीव और वाली का द्वंद, लका का सेतु बन्धन और यहा तक कि इसमें सीता की अग्निपरीक्षा भी है। इसलिये इसमे सदेह की नाममात्र गुजाइश नही कि इस कथानक पर बाल्मीकि रामायण का प्रभाव पडा है।

'इडियन स्टडीज इन आनर ऑफ चार्ल्स रौकवेल लैनमैन' नामक लैनमैन साहब का अभिनन्दन ग्रन्थ छपा था, इसमे इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी के

भूतपूर्व लाइब्रेरियन तथा इस समय औक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत, भारतीय संस्कृति आदि के प्राध्यापक डा० एफ० डब्ल्यू० टौमस ने एक लेख दिया था। उसमे उन्होने बताया है कि उन्हें चीनी तुर्किस्तान मे एक रामायण मिली है जो तिब्बती भाषा की है, यह ७०० से ९०० ईस्वी के बीच लिखी गई थी। इसमे बालकाड से उत्तरकांड तक की सामग्री दी गई है, भले ही कही कही वाल्मीकि रामायण से इसमें भेद है जो होना स्वाभाविक ही है, क्योकि प्रत्येक लेखक कुछ न कुछ नमक मिर्च अपनी ओर से लगायेगा ही जो उचित न होने पर भी प्राचीन समय मे साधारण बात मानी जाती थी। डा० टौमस ने इस ग्रन्थ के विषय मे लिखा है—'यह रामकथा जिस भाति लिखी गयी है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि इसका आधार भारतीय कथा है और बीच-बीच में जो श्लोक दिये गये हैं वे उनकी रचनाशैली और भावों की दृष्टि से सर्वथा भारतीय हैं, इस पर भी यह नही कहा जा सकता कि यह बाल्मीकि रामायण का अविकल अनुवाद है। सच तो यह है कि इसकी साधारण रूप-रेखा महाभारत के वनपर्व के अध्याय २७०-२९० तक जो रामायणी कथा दी गयी है उस पर आधारित है और इसके नाम तथा घटनायें इससे भी भिन्न हैं।' तिब्बत मे प्राचीन भारतीय साहित्य भरा पड़ा है, चाहे जिस रूप में हो रामकथा भी वहा पहुंची।

रामायण, महाभारत और पुराणो की धूम दक्षिण पूर्व एशिया में भारत से कम न रही। हमारे जो प्रचारक वहां गये उन्होने वहा पूरी सास्कृतिक विजय प्राप्त की। वहां वह चमत्कार देखने मे आया कि सर्वत्र भारतीय तीर्थ बस गए, गंगा, यमुना, कावेरी, सिन्धु, गोदावरी आदि पवित्र नदियों के नाम पर वहा की नदियों का नामकरण किया गया—प्रात.काल से रात तक हिन्दू रीति-नीति बरती जाने लगी, उठते ही घर घर में राम का नाम लिया जाने लगा, घर घर शख घण्ट की ध्वनि गूंज उठी। श्री विघ्नविनाशकाय नम: की आवाज सुनाई देने लगी, भारतीय नाटक खेले जाने लगे, रामलीला की सर्वत्र जय-जयकार हुई तथा आज भी वहा अंशतः हिन्दू सस्कृति, सभ्यता और आचार का बोलवाला है। बाली की रामलीला और उसकी पोशाक, साज-सज्जा आदि जिस ठाट-बाट के हैं, उसके सामने हमारी रामलीला फीकी पड जाती है। खेद है कि हमारी सभ्यता, आचार-विचार आदि जो वहा घर कर गए थे मुसलमानो ने बहुत अश में उजाड दिये—

विशेषतः जावा मे, किन्तु बाली, कम्बोडिया आदि देशो मे उसका पूरा अस्तित्व है।

कम्बोडिया के परमभक्त हरिजनो ने अकोरवट मे सारा जगल एक विशाल मन्दिर मे परिणत कर दिया। इसकी दीवारो मे नानापुराण निगमागम द्वारा सम्मत हजारो कथानक और रामायण की प्रायः सभी घटनायें खुदी हैं। इस सुदूर कम्बोज देश मे ईशा की छठी शती मे रामायण, महाभारत तथा पुराणों की कथा मन्दिरो मे नित्य होती थी। कंबोज के पास ही चम्पा राज्य मे त्रा–किएन नामक स्थान मे सातवी शती में राजा प्रकाश धर्म ने रामायणकार बालमीकि की भक्ति से ओतप्रोत हो उनका विराट् देवालय बनवा दिया। रामायण की सब घटनाये बा पुऔन नामक स्थान के मन्दिर पर भी खुदी है। इतना ही नही अन्य अनेक मन्दिरो मे भी ये घटनायें दीवारो पर खुदी है। इससे ज्ञात होता है कि वहा कभी राम नाम की बडी महिमा थी। "राम नाम महिमा नहिं गोई" स्याम मे डेढ सौ साल पहले तक वहा की राजधानी का नाम ही अयोध्या था तथा वहा का राजवश राम के नाम पर चलता था। इस वश ने तीन सौ वर्ष तक अखन्ड राज किया और जो यूरोपियन यात्री अयोध्या गये उन्होने इस नगर की सुन्दरता रमणीयता, विशालता, ईमानदारी, चरित्र की उच्चता आदि की प्रशसा के पुल बाधे है। यहा वास्तव मे रामराज था। यहा की रामायण का नाम रामकिएन है। यह सस्कृत रामायण की भांति ही है।

मलाया की भाषा मे रामायण का नाम हिकाइ यातसेदि राम है। इसमे वहा के मुसलमानो का बडा प्रभाव है। राम की उत्पत्ति आदम से बतायी गयी है। इसमे हजरत मुहम्मद आदि के नाम की महिमा गायी गयी है। पर है यह भी राम कथा। जावा मे एक रामायण का नाम सेरत राम है। इसका अच्छा प्रचार है। किन्तु 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता' का आभास जावा मे मिलता है जहा रामायण के १२०० पुराने संस्करण मिलते है जो सब बाल्मीकि पर आधारित हैं। इन सब मे प्रमुख योगीश्वर की बनाई रामायण की सबसे अधिक ख्याति है। इसमे २६ सर्ग और २७७१ नाना प्रकार के छन्द है। इसमे प्रक्षिप्त अंश बहुत है तो भी यह बाल्मीकि का अनुवाद है। इसकी विशेषता यह है कि तुलसी की भाति इसमे शिव की महिमा भी गायी गयी है और यह कवि तुलसी से पहले की रचना है। डच पंडित डा० जुयनबोल

ने इसका सम्पादन किया है, उनका मत है कि कवि भाषा का यह ग्रन्थ किसी शैव कवि ने लिखा है। प्रसिद्ध विद्वान् डा० कर्न का मत है कि योगीश्वर को संस्कृत का बहुत कम ज्ञान था। इसलिये उन्होने कोई और भी पुरानी रामायण और रामायण की नाना कथाओं से जो उनके समय में प्रचलित रही होंगी, अपनी रामायण रची होगी। यह रामायण ११ या १२ मी वर्ष पुरानी है। इन रामायणो मे राम, सीता, लक्ष्मण, दशानन आदि शुद्ध नाम दिये गये हैं। कुछ रामायणों के नाम ये हैं—रामायण ससक, राम विलग, सेरत कन्ड, राम कि डुंग वलि, राम तम्बक आदि।

उक्त तथ्यो से रामायण ने संसार मे अपना क्या प्रभाव जमा रक्खा है, इसका पता चलता है। भारत ने प्राचीन समय में ससार की सभ्यता को बहुत कुछ दान दिया था। रामायण भी मानव जाति को ऊँचा उठाने का साधन निकला। क्या इस तथ्य से हमारी छाती फूली नही समाती कि नवरात्रियों मे भारत मे ही नही, बाली, जावा आदि द्वीपो मे भी रामलीला की धूम रहती है।

दीन्हा (दीना) की ऐतिहासिक परम्परा

'सो फल मोहि विधाता दीन्हा', रामचरितमानस के उक्त पद में दीन्हा रूप आया है । हम आजकल इसके स्थान पर **दिया** कहते हैं। **दिया**, **खाया** और **जिया** के समान है। **दीन्हा** या **दीना** पुरानी हिन्दी (तथा कई वर्तमान हिन्दी बोलियो) मे कैसे आया, इसका कारण हिन्दी-कोश तथा व्याकरणकार कुछ नही बताते। यह हिन्दी के कोशो और व्याकरणो की त्रुटि है। किसी भाषा का तुलनात्मक और ऐतिहासिक ज्ञान होने से उस भाषा का ज्ञान पूरा कहा जाता है, अन्यथा भ्रम रह जाता है। इधर मैंने देखा है कि हिन्दी के एक व्याकरण मे, जो एक प्रतिष्ठित सभा ने छापा है, **मौसी** की व्युत्पत्ति **मा-सा**, **मा-सी** दी गयी है। इसका अर्थ यह हुआ कि मा-सी रूप का अर्थ है, 'मा के समान' और हमारे इस वैयाकरण ने यही अर्थ उक्त शब्द का किया है। यह शब्द यदि खड़ी बोली का होता तो उक्त अर्थ ठीक बैठ जाता। पर, यह अति पुराना है। इसकी परंपरा कम-से-कम अढाई हजार वर्ष से चली आती है। वैसे यह आदि-आर्य शब्द है। इसके दोनो अग **मातृ** और **स्वसा** आदि आर्यभाषा (आआ.) मे पाये जाते हैं और उक्त शब्दो के नाना प्रतिरूप सभी भारोपा भाषाओ मे मिलते है। इस दृष्टि से **मातृ-स्वसा** अतत: पाँच हजार वर्ष पुराना हुआ। इस शब्द का तुलनात्मक और ऐतिहासिक ज्ञान न होने से उक्त भूल की गई। म.भा. (मध्य भारतीय आर्य भाषाएँ = पाली और प्राकृत भाषाएं) मे इस **मातृ-स्वसा** का **मातुच्छा**, **माउच्छा**, **माउसिया**, **माउसिया** आदि रूप चलने लगे। इनका हिंदी रूप बना **माउसी** या **मौसी**। इतना ही नही; हिंदी की कई बोलियो मे **पिसी** 'फूफी' के लिए चलता है। बँगला मे **पिसि-मा** है ही जिसका 'फूफी' अर्थ है। यह प्राभा. (प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएँ = वैदिक और सस्कृत) में **पितृ-स्वसा** था। मभा. से गुजरता हुआ हिन्दी मे इसका रूप **पिसि**, **पिसी** हो गया। यदि हम **मा-सा**

मे मा-सी (स्त्री) निकालें तो इसका पाँच हजार वर्ष का इतिहास और ऐतिहासिक परंपरा का लोप हो जायगा और हमें पता न रहेगा कि भाषा के क्षेत्र मे प्रत्येक शब्द के भीतर क्रमशः ध्वनि-परिवर्तन की प्रक्रिया काम करती रहती है। व्युत्पत्ति का यह ढंग भाषाशास्त्री नही, भाषाशास्त्र के नियमों के विरुद्ध है, इस कारण भ्रमोत्पादक और अशुद्ध है। भाषा विज्ञान के निश्चित नियमों पर चलता है, उन पर न चलने से वह शास्त्र या विज्ञान न रह पायेगा। इस क्षेत्र मे मनमानी घरजानी को स्थान नही है।

अब देखिए दौना या दोग्हा रूप कैसे आया ? प्राभा. भाषाओं में एक प्रकार का आंशिक-भूत-काल क्त लगने से बनता था। दुग्ध का अर्थ 'दूध' और 'दुहा हुआ' होता था। वि-रक्त का अर्थ 'वैरागी' और 'अलिप्त' होता था। जित का अर्थ 'जय प्राप्त' होता था और इसका एक रूप जिन उसी अर्थ मे था। जैनियो के अवतार का नाम जिन था, जिससे उनका नाम जैन पड़ा। भगवान् बुद्ध का एक नाम जिन था। ये नाम इसलिए पड़े कि महावीर या बुद्ध ने मार तथा अपनी इंद्रियों को पूर्णतया वश में कर लिया था अथवा जीत लिया था। बुद्ध के नाम के विषय मे कहा गया है—मारजित् जिन.।

ऋग्वेद मे 'लुप्त' अर्थ में क्षित शब्द आया है। अथर्ववेद में यह रूप क्षीण हो गया है। अब हम हिन्दी मे क्षीण दुर्बल या उसे कहते हैं जिसके मास का क्षय हो गया है। इससे पता चला कि क्षित रूप अब काम मे न आने पर भी ऋग्वेद के समय चलता था। द्यूत का अर्थ है 'जुवा'। प्राभा. मे एक शब्द परि-द्यून मिलता है, इसका अर्थ है 'पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट' अथवा 'हारा हुआ'। द्यून द्यूत का ही दूसरा रूप है। ऋग्वेद मे स्तृ धातु के दो रूप एक ही अर्थ मे चलते हैं। संस्कृत मे भी ये रूप मिलते हैं। हिंदी मे वि-स्तृत और वि-स्तीर्ण 'फैला हुआ' एक ही अर्थ मे आते हैं। यहाँ भी त/न का एक समान प्रयोग है। और देखिए लग्न का अर्थ 'लगा हुआ' है। प्राभा. मे कही-कही लगित रूप भी मिलता है। इसी नियम से प्राभा. मे निर्-वात 'बिना वायु का, बुझा' मिलता है और निर्वाण तो चलता ही है। हिन्दी मे वित्त शब्द बहुत प्रचलित है। इसका अर्थ 'धन' है। यह वित्त प्राभा. मे भी 'धन, पाया हुआ' के अर्थ मे है। यह धातु आआ. है। इसका ऋग्वेद मे विन्दति 'पाता है' होता है, अंग्रेजी और जर्मन में find जिसका जर्मन उच्चारण फिण्ड 'पाना' है। इस वित्त रूप का अथर्ववेद मे विन्न रूप है, अर्थ भी वही है। अष्टाध्यायी मे निर्विण्ण(= निर्-विन्न)

रूप भी मिलता है। इसका अर्थ है 'बुझा हुआ' सं. और पाली में निर्वाण 'मोक्ष' का यही अर्थ है 'कर्मों के फल का बुझना, मोक्ष' है। रट्था धातु का अर्थ पकाना है इसका एक वैदिक रूप श्त्त है। पतजलि ने महाभाष्य मे श्राण श्रपित रूप भी दे रखे है। ऋग्वेद मे क्षितायुष् शब्द मिलता है। इसका अर्थ है 'वह मनुष्य जिसकी आयु समाप्त हो चुकी हो'। महाभारत में इसी अर्थ मे क्षीणायुष् शब्द मिलता है। ऋग्वेद मे स्तृ या स्तॄ धातु के दो रूप मिलते हैं, स्तृत और स्तीर्ण। सस्कृत और हिन्दी मे विस्तृत और विस्तीर्ण रूप बिना किसी अर्थ-भेद के चलते हैं। रामायण मे दृत 'फाड़ा हुआ' अर्थ मे मिलता है। ब्राह्मणों और संस्कृत के काव्यो मे दीर्ण का भी व्यवहार मिलता है। वि-दीर्ण हिंदी हो गया है। अपने कवियो और महाकवियो का हृदय वि-दीर्ण होने मे कुछ देर नही लगती। प्राभा. मे भक्त का अर्थ 'बाँटा हुआ' है। प्रा. फारसी मे बख्त इसी अर्थ मे है। साथ ही स. मे इसका दूसरा रूप इसी अर्थ मे भग्न भी मिलता है। उक्त शब्दो से सिद्ध होता है कि प्राभा. मे कुछ धातुओ के भूत-कालिक विशेषणों या अश-क्रियाओं (participle) मे-त भी लगाया जाता था, -न भी।

यह प्रक्रिया आआ. की परपरा का फल होगा; क्योकि अग्रेजी मे भी ऐसी प्रक्रिया वर्तमान है। अगरेजी मे laid (ले-ड) और lain (ले-न) दोनो रूप चलते हैं। दिखाया के लिए showed (शो-ड) shown (शो-न) होता है। इन शब्दों का अर्थ 'दिखाया हुआ' भी होता है। Bake (बेक=स पच् पाक) का बेक्ड (baked) और baken (बेकन) दो रूप एक ही अर्थ मे होते है। Load (लोड–'लादना)' के भी दो रूप loaded (लोडेड्) loaden (लोडेन) भी 'लादा हुआ' अर्थ मे होते हैं। get धातु के भी got और gotten दो रूप 'प्राप्त' अर्थ में होते हैं। ऐसे अनेक धातु हैं जिनके ऐसे दो रूप हैं, जिनमे -त और-न दोनों प्रत्यय लगते हैं। कुछ अन्य आर्य भापाओ मे भी इन प्रत्ययो के एक ही अर्थ मे प्रयोग देखे गये हैं।

दा धातु का दिन्न रूप पाली मे मिलता है। प्राकृत मे यह दिण्ण मिलता है। प्राचीन हिंदी मे कबीर की कविता मे न और ण दोनो मिलते है। जायसी, तुलसी आदि मे ण के स्थान पर भी न आया है। इसलिए मालूम होता है कि दीना का न पाली की देन हो। ऐसा भी सभव है कि इस शब्द मे भी प्राचीन हिंदी ण का न ध्वनि-परिवर्तन की प्रणाली का प्रभाव पड़ा हो। शतपथ ब्राह्मण मे दत्त के स्थान पर दित्त मिलता है, इसका -त/-न रूप दिन्न भी

रहा हो। पर यह रूप अब केवल पाली मे सुरक्षित है। वैदिक साहित्य मे **दिन'** रूप मिलता है जिसमे न' पर ध्वनि-बल है। हमारा **दीन्हा** या **दीना** इन्ही रूपो की परंपरा मे आया है। इस नियम से दीना-नाथ का अर्थ 'नाथ दत्त' हो सकता है। सं० मे दीन-नाथ एक लेखक का नाम मिलता है, पर **दीना नाथ या दीनानाथ** शब्द नही मिलता। क्या यह शब्द भी बजरंग बली की भाँति संस्कृत-हिन्दी की खिचड़ी है ? इसके साथ-साथ हिंदी मे एक पद **'दीना नाथ दीन बधु काहे को कहाये हो'** मिलता है। इसमें **दीना** सं. **दीन** का प्रतिरूप है। यहाँ **दीना-नाथ** का अर्थ है 'दीनो के नाथ'। प्राचीन हिंदी मे हमारे महाकवि संज्ञा शब्द के अत में **अ** को **आ** में—छद की मात्रा ठीक करने के लिए—परिवर्तन करने मे नाममात्र हिचकते थे। वे बहुधा ऐसा करते हैं। तुलसी ने **राम** को **रामा** कर देने मे यह विचार नही किया कि **रामा** वास्तव मे 'रमणी' का पर्याय है। अमरकोश मे है—**सुन्दरी रमणी रामा**। पर छंद की मात्राएं ठीक रखने के लिए **राम** के स्थान पर **रामा** लिखना पड़ा। कबीर स्थान-स्थान पर अपने को **कबीरा** कहता है। **दान** को **दाना, मान** को **माना, बीर** को **बीरा** (वास्तविक अर्थ 'पान का बीड़ा') आदि सैकडों उदाहरण प्राचीन हिंदी के दिये जा सकते है। ऐसा एक प्रयोग **दीन** और **दीना** (-नाथ) भी माने जाने चाहिए। इस दृष्टि से **दीना-नाथ**, दीना-नाथ का प्रतिरूप है। जहाँ तक व्यक्तिगत नाम का सबंध है वहाँ इसका अर्थ **नाथ-दत्त** मालूम पडता है तथा जहाँ यह शब्द **'भगवान्**, दीनो के नाथ' अर्थ रखता है वहाँ **दीन** के स्थान पर छद की मात्रा पूरी करने के लिये **दीना** रूप कर देना पड़ा।

हिंदी व्याकरण के कुछ अस्पष्ट शब्द

हिंदी व्याकरणकार बताते हैं कि हिंदी मे चार प्रकार के शब्द पाये जाते हैं। उनके नाम उन्होने रक्खे हैं—तत्सम, तद्‌भव, देशी और विदेशी ' इन नामो से यह समझ मे नही आता कि तत्सम और तद्‌भव का अर्थ क्या है। हिन्दी के विद्वान् तत् का अर्थ संस्कृत बताते और समझते हैं, किंतु ऐसा बताना या समझना भ्रम है। तत् का अर्थ हम आदि-आर्य-भाषा भी समझ सकते है, वैदिक भाषा भी मान सकते हैं और संस्कृत भी समझ सकते है। यह अपनी अपनी समझ की बात है। इस कारण तत्सम और तद्‌भव शब्द अंगरेजो, जर्मनो, द्रविणो आदि के लिए महान् भ्रम पैदा करने वाले हैं। अब हिंदी को राष्ट्र-भाषा का पद मिला है और संसार मे अनेक विश्वविद्यालयो मे इसकी पढाई होती है। सभी सभ्य देशो में भारत के लिए रेडियो का कार्यक्रम भी हिन्दी मे चलता है और उनसे समाचार भी हिन्दी मे प्रसारित किये जाते हैं। हिंदी भाषा में कई ऐसी उलझनें हैं जो विदेशियो या भारत के अहिन्दी प्रदेशो के लोगो के हिंदी के अध्ययन मे बडी रुकावटें डालती हैं। हमारे पुल्लिग और स्त्रीलिंग स्वयं भारत के प्रादेशिक भाषाएं बोलने वालो को बहुत कष्ट देते हैं। एक बार श्री गोपालन रेड्डी लखनऊ पधारे थे। उन्होने हिंदी साहित्यको को निमन्त्रण दिया। मैं भी उनके डेरे पर गया। वहाँ उन्होने हिन्दी भाषा की चर्चा छेड़ी। कहा कि हिंदी भाषा बहुत अच्छी है। इस राष्ट्र-भाषा को सीखना प्रत्येक भारतवासी का प्रथम कर्तव्य है। इसके सूर, तुलसी आदि कवियो के ग्रथ प्रत्येक देशवासी को पढ़ने चाहिए; किंतु मुझे हिन्दी मे सबसे बड़ी जो कठिनाई लगती है वह है लिंग-भेद। जब हम सोचने लगते है कि यह कठिनाई कैसे हल हो तो हमारा मस्तिष्क जवाब दे देता है। हमको इतना जानना चाहिए कि भाषा किसी प्रकार क्यो न निकली हो, उसके बोलनेवालों का धर्म है कि उसे क्लिष्ट से सरल और सरलतर बनाते जाएं। भाषा समाज-सेवा

की सुविधा के लिए उत्पन्न हुई है। उसकी पहली समस्या यह थी कि मनुष्य परिवार के भीतर ही अपने बंधु-बांधवों, स्त्री-बच्चों आदि को अपने मन के भाव किस प्रकार बताये। इस उत्कट इच्छा ने कुछ शब्द और वाक्य पैदा किये। उस समय किसी को इतना ज्ञान न था कि हम जो भाषा बना रहे हैं उसमें, भविष्य में, क्या क्या अड़चनें पैदा होंगी। पुरुष ने स्त्री जाति देखी तो उसे भिन्न समझकर उसका लिंग ही दूसरा बना दिया, जिसे हम प्रकृति की दृष्टि से देखें तो स्वाभाविक ही मालूम पड़ता है। यह अड़चन अँगरेजी भाषा मे भी कभी उपस्थित थी। अब उन्होने अपनी भाषा का व्याकरण ऐसा कर दिया है कि लिंग-भेद न उन्हें दुरूह लगता है और न हम विदेशियों को अँगरेजी पढने में इस कठिनाई का कुछ आभास ही होता है। लिंग-भेद का कुछ उपाय राष्ट्र-भाषा के विद्वानो द्वारा किया जाना चाहिए। जर्मन, फ्रेंच, रूसी आदि भाषाओं मे सदा इस दृष्टि से सुधार किये जाते हैं कि भाषा सरल से सरलतर बन जाय। तत्सम और तद्भव शब्द भी अस्पष्ट होने के कारण अपना अर्थ साफ-साफ समझा नही सकते।

जैसा मैं पहले बता चुका हूं—तत् कुछ नही बताता कि वह किस ओर संकेत करता है। तत्सम का अर्थ है 'उसके समान'। मुझे तो भले ही अध्यापकों ने बता रखा हो कि तत् का अर्थ 'संस्कृत' है और मैं समझता हूं कि तत्सम का अर्थ 'संस्कृत के समान' है।

इस दशा मे यदि हम एक शब्द कमल लें तो हमारे अध्यापक इसे तत्सम या तद्भव या इसे संस्कृत बताएंगे। यह बात ध्यान मे रखने की है कि जो पुरुष आपके समान होगा वह आप नही होंगे, कोई दूसरा ही होगा; क्योंकि वह आप नहीं हैं बल्कि आपके समान है। वृक्ष के समान, उसका पर्याय पादप है और पादप के समान विटप है तथा विटप के समान द्रुम है और द्रुम के समान पेड है। ये सब शब्द पर्याय हैं, इस कारण समान हैं; किंतु एक नहीं हैं। वृक्ष का अर्थ है 'वह पेड़' जिसे लोग काटते हैं। यह वृश्च् धातु से बना है जिसका अर्थ है 'काटना'। इसी धातु से वृश्चिक 'बिच्छू' शब्द भी बना है जिसका मूल अर्थ है 'काटनेवाला कीड़ा'। पादप शब्द वृक्ष के समान होने पर भी अर्थ मे थोडा भेद रखता है। इसका अर्थ है 'पाँव से जल पीनेवाला'। यहाँ पाँव का अर्थ 'जड या मूल' है जिसके बल पर पेड खड़ा रहता है। विटप का अर्थ है 'मैली खाद खाने वाला'। द्रु-म मे द्रु धातु वर्तमान है जिसका अर्थ

है 'चीरना, फाड़ना, दलना'। इसका रूप अँगरेजी मे 'ट्री' tree है। अब पाठक देखेंगे कि किसी के समान बताना, पदार्थ को मूल पदार्थ से भिन्न बताना है। कमल शब्द एक फूल का नाम है जो कन् और एक लुप्त हुए कम* (चमकना, सुन्दर दिखाई देना) धातु से बना है। पाठक जानते ही हैं कि कन् धातु से कांत, कान्ति, कनक आदि शब्द बने हैं। उसके ही दूसरे रूप कम* धातु से कमल, कमला, कमनीय आदि शब्द निकले हैं। यह कम धातु अवेस्ता मे भी दिखाई देती है। उसमे कम्र शब्द है जिसका अर्थ 'वह रमणीय पदार्थ जो कम पाया जाता है'। फारसी शब्द कम इसी कम्र का आधुनिक रूप है। अब इस कमल की तारीफ सुनिए कि यह संस्कृत से अर्द्धमागधी, पाली, नाना प्रकार की *प्राकृतों से होते हुए हमारे पास हिन्दी तक पहुंचा है। इसलिए इसे संस्कृत* कहे, पाली कहे या प्राकृत, समझ मे नही आता। कई प्राकृत शब्द इसी प्रकार के है। प्राकृत मे सूर्य के लिए रवि, हिरन के लिए हरिण, संचार के लिए संचार, हाथ के लिए कर और सूर्य की रश्मियों के लिये किरण मूल रूप *संस्कृतरूप मे ही वर्तमान हैं। अतः इन शब्दों को संस्कृत ही कहना उचित होगा। ये तत्सम नही, शुद्ध संस्कृत हैं। सो भाषा-विज्ञान के अनुसार इन्हें* **प्राचीन भारतीय आर्यभाषा** के शब्द कहना ही उचित होगा; क्योंकि इस समय वैदिक और संस्कृत भाषाओं का उक्त नाम ही शुद्ध माना जाता है। जो शब्द प्राचीन भारतीय-आर्य-भाषाओं से विकृत होकर हमारे पास आये हैं उनमें बहुत से पाली, प्राकृत आदि द्वारा हिन्दी में पहुँचे हैं। इनकी परंपरा *बताते समय मध्य-भारतीय-भाषा का उल्लेख करना होगा;* क्योंकि इन सब मे ध्वनि-विकार का रूप मध्य भारतीय भाषाओं से आया है। इस कारण मेरे विचार से तद्भव शब्द अशुद्ध है, क्योंकि हिंदी में सीधे संस्कृत से शब्दों मे ध्वनि-विकार नहीं हुआ है। यह तद्भवता संस्कृत से सीधे नही आयी है। *अर्द्धमागधी, पाली और नाना प्राकृतों द्वारा इनमें ध्वनि-विकार आया है।* संस्कृत का अद्यापि स्वयं वैदिक में अद्य हो गया था। संस्कृत मे अद्य ही रहा। अर्द्धमागधी और पाली मे इसकी ध्वनि बदल गयी और यह शब्द अज्ज हो गया। प्राकृत भाषाओं मे इसका रूप अज्ज ही मिलता है। अपभ्रंश मे इसमें उ (ु) जुड़कर यह अज्जु रूप मे आ गया। पर यह अज्जु रूप हिन्दी में नही *आया। यह समझ लेना चाहिए कि हिंदी* भात शब्द अपभ्रंश के भत्तु से नही निकला और न यह संस्कृत के भक्त से निकला है। यह तो प्राकृत शब्द भत्त से आया है। हिंदी के अधिकांश शब्द प्राकृतों से आये हैं। बहुत थोड़े शब्द

हिन्दी ने अपभ्रंश से पाये हैं। इस तथ्य को न जानने के कारण हमारे भाषा-वैज्ञानिक मात को मत्त् से निकला बताते हैं। मत्त् से यदि कोई हिंदी शब्द आता तो उसका रूप मातु होता, मात नहीं। हमारा ऐसा विचार है कि हिंदी अपभ्रंश से आयी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंदी के वाक्यों का रूप, जिनके भीतर शब्द और उनका व्याकरण भी आता है, वह अपभ्रंश के सहजिया संतों की कविता द्वारा हमें प्राप्त हुआ है। जैसे सरहपा संत ने लिखा है—

'अलिओ ! धम्म महासुह पइसइ।
लवणो जिमि पाणीहि विलिज्जइ ॥'

पाठक देखेंगे कि इस पद से हम धीमे धीमे प्राचीन हिंदी और उसके बाद नयी हिंदी में आये हैं। इस पद का अर्थ है 'हे सखाओं! धर्म में महासुख है, इसमें वही सुख है जो लवण को पानी के साथ मिलकर पानी के अणु-अणु में विलीन हो जाने का है।' हिंदी ने अपभ्रंश का व्याकरण थोड़ा-बहुत अपनाया है, उसके उकार-बहुल नामों को नहीं। इस उकार-बहुलता के कारण तुलसी ने पसाउ, रामु आदि शब्दों का व्यवहार किया है। ये रूप हिंदी में नहीं आये। हिंदी में अज्ज् से आज नहीं हुआ और न कज्ज् से काज। हिन्दी में आज और काज मध्य-भारतीय-भाषाओं के अज्ज और कज्ज रूपों से प्राप्त हुए हैं। इस कारण हमें अपने गम्भीर अध्ययन से इतना तो जानना ही चाहिए कि हिंदी के अपने शब्द अर्द्धमागधी, पाली और नाना प्राकृतों से आये हैं, न कि शब्दों के अंत में उकार जोड़नेवाली अपभ्रंश से। बौद्धों की अपभ्रष्ट-संस्कृत में भी उकार बहुत चलता था। उसमें पितु-मातु रूप भी चलते थे। इसलिए अपभ्रंश में पिउ-माउ भी हो गया।

हिंदी शब्दों का तीसरा प्रकार देशी कहा जाता है। इस देशी का अर्थ विचित्र और भ्रम में डालनेवाला है। देशी का तो अर्थ देश में पैदा या देश से सम्बन्धित होना चाहिए। हिंदी में देसी और देसावरी शब्द स्वदेशी और विदेशी माल के लिए चलते हैं। इसलिए कई अध्यापक बताते हैं कि हिंदी के देशी शब्द वे हैं जो इस देश में बहुत पुराने समय से चल रहे हैं, किन्तु वे यह नहीं बताते कि ये देशी शब्द कब से चले, कैसे चले और क्यों चले। उक्त बातें जानना हिंदी के छात्रों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वास्तव में ये देशी शब्द ऋग्वेद से भी पुराने हैं। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में एक शब्द वस्त है और इसका

ऐसा बन गया कि उसके मूल का पता चलाना ही असम्भव हो गया। ऐसा एक शब्द णक्को है जिसके बारे मे हेमचन्द्र ने लिखा है :— घाणे मूके णक्को । देशी शब्द णक्क का अर्थ था—'घ्राण और मूक'। इस णक्क से हमारा नाक शब्द निकला है। यह वैसे ही निकला जैसे रज्ज से राज, णच्च से नाच आदि। इस णक्क का तमाशा देखिए कि यह वैदिक शब्द अनीक का विकृत रूप है। पाठक जानते होगे कि अन् धातु का अर्थ 'साँस लेना' है। इस कारण अनीक का मूल अर्थ 'नाक' था जो साँस लेने वाली इन्द्रिय है। पाठक जानते ही हैं कि हिंदी मे चेहरे के लिए वदन शब्द काम मे आता है; किन्तु वदन का आख्यात वद् 'बोलना' है। तुलसी ने 'जय गज-वदन् षडानन माता' मे वदन का अर्थ 'मुँह' किया है जो सर्वथा ठीक है, पर हम चन्द्र-वदनी आदि मे वदन का अर्थ सारा चेहरा करते हैं। इतना ही नहीं, फारसी मे सारे शरीर को वदन कहते हैं। यह शब्द भी भार-इरानी वद 'बोलना' धातु का ही रूप है। बोलने वाली इद्रिय 'मुख' का अर्थ विस्तृत होकर चेहरे के लिए प्रयुक्त होने लगा और फारसी मे तो यह सारे शरीर का पर्याय बन गया। यह अर्थ-विस्तार अनीक पर भी लागू हुआ। बाद मे अनीक 'साँस लेने वाली नाक' पर भी अर्थ-विस्तार की प्रक्रिया ने अपना जादू डाला और अनीक का अर्थ संस्कृत मे 'चेहरा' हो गया। ऋग्वेद मे अनीक का एक अर्थ 'साँस लेता' हुआ भी है। हम रोज सध्या मे यह सूक्त दुहराते है—दृशे विश्वाय सूर्यम् चित्रम् उदगात् अनीकम् अर्थात् 'सारे विश्व को (प्रकाशमय कर) दृष्टि मे *आने लायक बनाने के लिए सूर्य का चेहरा साँस लेता हुआ उगा है।*' यहाँ पाठक यह भी देखेंगे कि चेहरा शब्द अवेस्ता के चिथ्र शब्द से निकला है। उक्त पद मे चित्र का अर्थ भी 'चेहरा' ही है। वास्तव मे सूर्यम् चित्रम् उदगात का अर्थ—है 'चमकता हुआ चेहरा ऊपर को आया है'। हमारे यहाँ चित्र का एक अर्थ 'तसवीर' भी है जिसका अर्थ है 'मनुष्य की कागज, कपड़े या पत्थर में बनी मूर्ति'।

अस्तु। यह अनीक शब्द अ खो बैठा और निक्क बन गया। स्वभावतः यह णक्क मे परिणत हो गया। णक्क और णक्को एक ही शब्द के दो रूप हैं। णक्को 'गूँगे' को भी कहते हैं। गूगा होना अच्छा नही बुरा ही है। अब दूसरा चक्कर देखिए कि कुमाऊँनी भाषा मे बुरे को नक्को कहते हैं। *यह देखकर आनन्द* प्राप्त कीजिए कि शब्दो के रूप और अर्थ किन छोटे कारणो से कहाँ के कहाँ चले जाते हैं, और यह आनन्द भी लीजिए कि अनीक शब्द जो शुद्ध वैदिक है

किस प्रक्रिया से देशी चबक बन गया। इस प्रकार के देशी शब्द भी अनेक हैं।

हिंदी मे अनेक धातुएँ संस्कृत से नही आयी। प्राकृत में ऐसी धातुओं को धात्वादेश कहा जाता है। हमारी हिंदी मे भूलना-चूकना ऐसी ही धातु हैं। इन धातुओ के विषय में प्राकृत व्याकरणो मे यह नही बताया गया है कि ये कहाँ से आयी है, किंतु ये हिंदी में रात-दिन व्यवहृत होती है। इनके विषय मे डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने रामनारायण लाल द्वारा प्रयाग से प्रकाशित अपने कोश मे लिखा है कि भूलना संस्कृत विह्वल से निकला है। ऐसा ही उन्होंने चूकना के बारे मे भी लिखा है कि यह संस्कृत च्युत्कृत से और प्रा० चुकि से निकला है। प्राचीन संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर में भी कुछ इसी प्रकार का था। ये भूलें हमारे प्राकृत-ज्ञान के अभाव के कारण पैदा हो रही है क्योंकि प्राकृत मे ये धात्वादेश है जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं। ये भुल्ल और चुक्क के रूप है। हमारे व्याकरणो मे इन धातुओं पर भी विचार होना चाहिए जिससे हम जाने कि हिंदी मे ये धातु प्राकृत से आयी है। सस्कृत मे इनका मूल ढूंढना बुद्धिमत्ता नही है। और देखिए हमारी हिंदी का अघाना क्रिया दे० अग्घाण से निकली है जिसका अर्थ है 'तृप्त होना', किंतु हमारे कोषो मे इसे सस्कृत मूल से भी निकाला गया है। डा० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' जी ने इसका मूल संस्कृत रूप अघ्रह दिया है। अघ्रह से अघाना या तृप्त होना कैसे निकला, यह समझ के बाहर की बात है। हिंदी शब्दसागर ने षष्ठ संस्करण मे, जो मेरे सामने निकला, इसका मूल रूप प्रा० अग्घाण दिया है। वास्तव मे अग्घाण शब्द प्राकृत नही है। वह देशी है, अर्थात् कही ऐसे स्रोत से आया है जिसकी संगति किसी प्रकार सस्कृत से नही बैठती। यह शब्द केवल हेमचन्द्र सूरि के देशी नाममाला मे १, १९ मे आया है। अत. हमारे व्याकरणो को इस देशी मूल के हिंदी शब्दो का स्पष्टतया वर्णन कर देना चाहिए जिससे हिंदी व्याकरण के विद्यार्थी अपने शब्दो के मूल रूपो को जाने।

मेरे विचार से उक्त हिंदी शब्दो के चारो वर्गों मे कुछ संशोधन होना ही चाहिये। भाषा-विज्ञान ने वैदिक और संस्कृत भाषाओ को प्राचीन भारतीय-आर्य-भाषा कहा है जो बड़े-बड़े जर्मन विद्वानो ने बहुत सोच-विचार कर निश्चित किया है। वाकर नागल ने प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का जो व्याकरण छ. खण्डो मे लिखा है, उसका नाम रखा है Altindinsche

Grammatik अर्थात् प्राचीन भारतीय भाषा का व्याकरण। यह वैदिक और संस्कृत का व्याकरण है। इस कारण हमे तत्सम के स्थान पर प्राचीन-भारतीय आर्य-भाषा नाम रखना चाहिए। तद्भव का कोई विशेष अर्थ नही होता। इस कारण योरोप के भाषा-विज्ञानी मध्यकाल की सब भारतीय भाषाओं (अर्द्धमागधी, पाली, प्राकृत आदि) को अब मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा कहते हैं। इस कारण तद्भव का यही नाम हमारे व्याकरणों मे भी आना चाहिए। देशी-विदेशी शब्द ठीक ही है। हमे अब ससार के भाषा-विज्ञानियो के साथ अपने व्याकरण के रूप बदलने चाहिए, क्योंकि बहुत अध्ययन और *मनन के बाद जर्मनी के विद्वानो ने ये शब्द स्थिर किये हैं।*

तत्सम शब्द प्राचीन या नवीन सस्कृत कोषो मे कही नही पाया जाता है। तद्भव शब्द मोनियर विलियम्स ने अपने कोष मे दिया है और इसका अर्थ बताया है 'उससे पैदा हुआ'।

'संगच्छध्वम् संवदध्वम् स वो मनासि जानताम्।'

गोस्वामी तुलसीदास की भाषा

प्राचीन और नवीन हिन्दी में तुलसीकृत रामचरितमानस का जोड़ नहीं मिलता। सूर सूर तुलसी शशि प्राचीन गुणगान है; किन्तु सब पहलुओं पर विचार करने से तुलसी प्राचीन और नवीन हिन्दी साहित्य के कवियों मे सर्वश्रेष्ठ पाये जाते हैं। स्वयं विश्वनाथपुरी में रामचरितमानस ने घर-घर अपना राज जमा लिया है। तुलसी ने राम के विषय में ठीक ही लिखा है :—

मंगल - भवन अमंगल - हारी।
उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥

रामचरितमानस के बारे में एक अंग्रेज पादड़ी ने ठीक ही लिखा है कि उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश आदि में इस महान् काव्य ग्रन्थ का जो घर-घर प्रचार है उसके सामने बाइबिल का प्रचार फीका पड़ जाता है। रामचरितमानस के प्रकाशन से कई प्रकाशक सेठ बन गये। तुलसी ने इस काव्य में राम-रस इस प्रकार घोला है कि रामचरितमानस की मोहिनी सभी पर अपना जादू डाले बिना नहीं रहती। भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने बहुत ठीक लिखा है— "भाव अनोखो चाहिए भाषा कोऊ होय।" तुलसी के ग्रंथों में अनोखे भावों का जादू सभी सुनने वालों के सर चढ़ कर बोलता है। यही कारण है कि हमारी दृष्टि मे तुलसी की भाषा, भाव, अलंकार, रस-वर्णन आदि में अलौकिक गुण हैं।

हिन्दू जनता ईश्वरभक्त है और रामचरितमानस के भीतर श्रद्धालु हिन्दू भक्तिरस मे डूब जाता है, फिर उसे तुलसी के शब्दों के भीतर शब्द-शब्द मे न मालूम कितने राम-रस के निर्झर फूटते दीख पड़ते हैं। मुझे भी तुलसी की रामायण और नजीर की शायरी मानवता से लबालब भरी दीख पड़ती है। ये दोनों ग्रन्थ मैं सर्वदा अपने पास रखता हूं। खेद है कि तुलसी के राम-रस मे डूबकर हिन्दी के विद्वानों ने कभी तुलसी की भाषा की ओर दृष्टि भी

नही की और कुछ शब्दो का हमारे विद्वान् और रामायणी सज्जन अर्थ भी नही जानते, तो भी अर्थ का अनर्थ करके जनता को राम-रस मे सराबोर कर देते है। अब मैं तुलसी की भाषा और शब्दो पर हिन्दी के विद्वानो के सामने कुछ विचार रखता हू।

रामचरितमानस उच्च श्रेणी का एक काव्य है और काव्य मे तुक और मात्राएं ठीक रखना मुख्य काम होता है। हमारे सं० कोषकारो ने जो शब्दो की पर्यायवाची शृंखलाएं अपने ग्रन्थों मे दी हैं वे कवियों के उक्त कामो मे सहायता पहुचाने के लिए ही हैं। इन ग्रन्थो मे **कवीनाम् हितकामया** लिखा गया है। वह ठीक मात्राएँ और तुक बैठाने के लिए ही है। एक शब्द कम या अधिक मात्रा का हुआ तो दूसरा शब्द ऐसे स्थल पर ठीक बैठ सकता है। इस कारण कवि इन कोषो को मुखाग्र कर लेते थे। इस समय भी कुछ कवियो का सस्कृत कोषों को भली, भाति याद करके सुललित शब्दों का सग्रह करना सुना गया है। जो हो, तुलसीदास की हिन्दी शब्द सम्पत्ति बहुत बडी है, इतनी बडी है कि हिन्दी कोषों के ८० सैकडा शब्द तुलसी के ग्रन्थो मे पाये जाते हैं। यह तुलसी का माहात्म्य है। किन्तु तुलसी ने अपने बहुत से शब्दो को तोडा-मरोडा भी है।

कुछ उदाहरण लीजिये—तुलसी ने महादेवजी के लिए कही **त्रिपुरारि** और कही **पुरारि** शब्द व्यवहृत किया है। महादेव का अर्थ त्रिपुरारि अर्थात् त्रिपुर का अरि तो बहुत पहले से चला आया है किन्तु **पुरारि** शब्द केवल तुलसी मे ही मिलता है। अब प्रश्न उठता है कि क्या शम्भुजी किसी 'पुर' के भी शत्रु थे ? इन्द्र महाराज का एक नाम **पुरंदर** भी है। यह नाम वेदो मे भी पाया जाता है। इसका अर्थ है पुरो को दलनेवाला (इंद्र) अर्थात् शहरों को उजाडनेवाला। अविस्ता मे स्थान-स्थान पर अहुरमज्द (असुरमहत्) से प्रार्थना की गई है कि अचानक आक्रमण करनेवाले और हमारे पुरो को लूटने वाले इन देव (शैतान) पूजको से हमे बचा। इससे विद्वान यह अनुमान लगाते है कि इन्द्र और उसके अनुयायी अकस्मात् पुरों पर टूटकर उनके निवासियो को लूट लेते थे। इन घटनाओ से इन्द्र की **पुरंदर** उपाधि ठीक ही लगती है। किन्तु शिवजी को **पुरारि** कहना किसी प्रकार सगत नही जँचता। मोनियर विलियम्स ने अपने संस्कृत कोष मे **पुरारि** शब्द दिया है और इसका अर्थ 'विष्णु' किया है। साथ ही उन्होने किसी सस्कृत ग्रन्थ का उल्लेख किया है

जिसमे उक्त अर्थ मे यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस दशा मे शिवजी के लिए पुरारि शब्द का रखना किसी प्रकार उचित नही है। इससे यह भी पता चलता है कि तुलसी के समय में विद्वानों को यह पता न रहा होगा कि पुरारि विष्णु के लिए प्रयुक्त किया गया है।

तुलसी तथा प्राचीन कवियो के काव्यो मे भ्रम पैदा करने वाला एक शब्द अनूप है। प्राचीन कवियों ने यह समझा था कि अनूप, 'अनुपम' शब्द का सक्षिप्त रूप है। इसलिए प्राचीन काव्यो में अनूप और अनुपम एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। वर्तमान हिन्दी में भी मित्रवर अनूप शर्मा जी ने इस अनूप शब्द को जीवित रख छोडा है। हमारे आधुनिक कवि भी अनूप शब्द का व्यवहार करते ही हैं। अब दिल्लगी देखिए कि संस्कृत शब्द अनूप अनु-अप से बना है और कोपकारों ने इसका अर्थ गीला, दल-दल, भैस आदि दिया है। कोई-कोई विद्वान् इसका अर्थ द्वीप (द्वि-अप) देते हैं अर्थात् वह भूमिखण्ड जिसके चारो ओर जल हो। इस दृष्टि से, और भाषा-शास्त्रीय विचार से, उक्त शब्द का प्रयोग अनुचित है। प्रत्येक शब्द का व्यवहार उसकी व्युत्पत्ति का ज्ञान होने पर ही उचित रीति से किया जा सकता है, अन्यथा नही। एक और शब्द देखिए। तुलसी ने लिखा है :—

ज्ञान विराग सकल गुन अयना।

इसमे 'अयना' शब्द का अर्थ है 'निधि' या 'निधान'। अब देखिए कि अयन ई तथा उसके एक रूप अय् (जाना) से बना है। अयन का अर्थ कोपकारों ने भी वही दिया है जो होना चाहिए अर्थात् पथ, मार्ग, सूर्य का दक्षिण और उत्तर की ओर का मार्ग आदि। आजकल हिन्दी मे भी कई लेखक इसका अर्थ 'घर' या 'निधि' करते हैं जो व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वथा अशुद्ध है। इस समय कालिजों मे भाषाविज्ञान की धूम है; हमे कुछ सचेत होना चाहिए। सच है, बिना भाषा के नियम जाने भाषा भ्रमोत्पादक हो जाती है। भाषा मे भ्रम रहने से उसे बोलने या लिखनेवाले किसी सत्य को निश्चित रूप मे प्रकट करने के स्थान पर भ्रम पैदा कर देते है तथा पढने वाले को चक्कर में डाल देते हैं। इस कारण भाषा का पूरा अध्ययन करने के बाद शब्दों का उचित व्यवहार करना चाहिए। हिन्दी का उचित भाषा-शास्त्रीय अध्ययन न हो सकने के कारण जायसी के एक शब्द का अर्थ का अनर्थ हो गया है। जायसी ने पद्मावत के आरम्भ में ही दिया है :—

'कीन्हेसि अगर कस्तूरी-वेना' जिसका अर्थ है कि हे परमात्मा ! तूने कस्तूरी का वीणा बनाया है। कस्तूरी के नाफे को कुमाउनी भाषा मे वीणा (वीणो) कहते है। पाठक जानते ही होगे कि पान के भीतर सुपारी, इलायची आदि डालकर पान का रूप (बीडा) ऐसा बना देते हैं कि ये चीजे बाहर न गिरे। कस्तूरी के नाफे मे कस्तूरी बन्द रहती है, इस कारण कुमाऊँ वाले जिनके प्रदेश की सीमा तिब्बत से मिली है, इस नाफे को वीणा या वीरा कहते हैं। इसमे कस्तूरी बन्द रहती है। अब देखिए कि संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर में निम्न बातें लिखी गयी हैं :—

"सज्ञा० पु० [स० वेणु] [स्त्री० अल्पा० वेनिया] १. बांस का बना हुआ छोटा पखा, २. खस उशीर।" इसमें ध्यान देने की बात यह है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति वेणु दी गयी है—जिसका अर्थ 'बांस' होता है और बास *का खस तथा उशीर से कोई सम्बन्ध नही है।*

अब मेरी विनय सुनिये। तुलसीदासजी ने विनय पत्रिका नामक ग्रंथ लिखा है। इसका अर्थ है 'बहुत नम्रतापूर्वक लिखी गई चिट्ठी'। विनय शब्द संस्कृत मे मिलता है। रघुवंश के प्रायः प्रारम्भ मे एक श्लोक आया है :—

प्रजानाम् विनयाधानात्, रक्षणात् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासाम् केवल जन्म हेतवः॥

उक्त पद मे विनयाधानात् का अर्थ 'शिष्टाचार' तथा सस्कृत की शिक्षा देना है। संस्कृत मे नय शब्द का अर्थ 'लोकयात्रा, सफलता और शिष्टाचार-पूर्वक बिताने का मार्ग है।' उसमे वि-जोड़ने से विनय का अर्थ विशेष नय या नीति हो जाता है। इस कारण तुलसीदासजी का किया हुआ अर्थ उनके साधारण संस्कृत ज्ञान और प्राकृत रामायण के पाठ के कारण हुआ है। सयंभु ने अपने अपभ्रंश रामायण के प्रारम्भ मे लिखा है—

बुह-यण सयंभु पइँ विण्णवइ।
मह सरिसउ अण्ण णहि कुक॥

इस चौपाई का अर्थ है—'हे विद्वानों या बुध लोगो! सयंभु आपको जताना चाहता है कि मेरे समान कुकवि दूसरा नही है। प्राकृत मे एक शब्द

विण्णत्ति संस्कृत शब्द विज्ञप्ति का प्रतिरूप है। उसमे इस विण्णति से बना हुआ विण्णवै धातु भी है। तुलसीदास ने इसका संस्कृत रूप न समझने के कारण उक्त शब्दों का भ्रमपूर्ण अर्थ कर दिया। संस्कृत में विनती शब्द नही है। उसमें एक शब्द 'नति' है जिसका अर्थ नम्रता होता है। इस कारण विनति शब्द का अर्थ होगा 'बहुत नम्रता'। अतः हमें मानना पड़ेगा, रामचरितमानस के समाचार शब्द की भांति विनती भी प्राकृत विण्णत्ति से संस्कृत मे रूपान्तरित है। विनय का अर्थ जहाँ नम्रता होता है तो उसका सम्बन्ध लज्जा से रहता है।

तुलसी की एक चौपाई है:—

ते प्राकृत कवि परम सयाने। जिन भाषा हरिचरित बखाने॥

इससे स्पष्ट होता है कि तुलसी ने संस्कृत धर्मग्रंथो और रामायणों के साथ प्राकृत रामायणों को भी पढा। इसके बहुत से प्रमाण मिलते है। उदाहरणार्थ–स्वयं तुलसीदास ने जो मानसरोवर अर्थात् मानस का रूपक बाधा है वह सयंभु के राम-कथा सरि के रूपक से उनकी कल्पना शक्ति में उपजा है। हम कृष्ण भगवान् को हरि कहते हैं। राम को हरि न संस्कृत में कहा जाता है और न हिन्दी मे कहना चाहिए। हरि का अर्थ 'पीला' है; भगवान् पीला वस्त्र (पीताम्बर) पहनते हैं इसलिए कृष्ण का नाम हरि है। भगवान् कृष्ण विष्णु के षोडश कलावतार थे, इस कारण विष्णु का नाम भी हरि पड गया। संस्कृत में राम का नाम हरि कभी न था। तुलसी ने रामचरित को हरिचरित भी कहा है और रामचरितमानस को हरिचरित-मानस। इसीलिए हिन्दी कोषो मे हरि का एक अर्थ राम भी किया गया है; किन्तु सत्य कुछ और है। अपभ्रंश रामायणों के कवि, सयंभु और पुष्पदन्त जैन मत के थे। जैन धर्म मे कृष्ण भगवान् के भाई बलराम को राम माना गया है। उनके साथ ही भगवान् कृष्ण के चरित का वर्णन किया गया है। पुष्पदन्त की रामायण के पहले ही श्लोक मे रामायण को हरिगुणथोत् अर्थात् 'हरि के गुणो का स्तोत्र' कहा गया है। इन रामायणों का प्रभाव तुलसी पर पडा जो राम के इस हरि नाम से प्रकट होता है। तुलसी की रामायण की प्राचीन हिन्दी मे अपभ्रंश का प्रभाव स्पष्ट है। शब्दो के अन्त में 'उ' मात्रा का जोड़ना अपभ्रंश भाषा का प्रधान लक्षण है। तुलसीदास ने 'कोऊ' रामु, अभिमानु, किसु, परमु, दुराऊ, उपाउ, देउ आदि मे उक्त प्रभाव के कारण ही ऊ की मात्रा जोड़ी है। पसाऊ भी इसी का उदाहरण है। यद्यपि

जहाँ तुलसी अच्छा लगना या शोभा देना के लिए शब्द काम मे लाते हैं वहा वे प्राकृत सोहण और हिन्दी सोहन का प्रयोग करते हैं। इन दोनो का संस्कृत मूल है शोभन। भले ही कही-कही छन्द की मात्राएँ ठीक करने के लिए वे सुह का सोह या सोह का सुह कर दें जो उनके ग्रंथो मे बहुत कम मिलता है।

उदाहरण देखिए :—

मनिति विचित्र सुकविकृत जोऊ।
राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥

यहाँ सोह का अर्थ है 'शोभा देना' और देखिए :—

मनि मानिक मुकुता छवि जैसी।
अहि गिर गज शिर सोह न तैसी॥

यहाँ सोह का स्पष्ट अर्थ शोभा देना है।

एक चौपाई और लीजिए :—

विधुवदनी सब भाँति सँवारी।
सोह न बसन बिना बरनारी॥

इसमे भी सोह का अर्थ स्वयं प्रकाशमान है। सोहन और सोहावन के अर्थों मे जो यह भेद है वह भाषा विज्ञान के वर्तमान प्रबल प्रकाश मे सहज मे ही समझ मे आ जाता है। तुलसी और सूर ने थकना शब्द को जिस अर्थ मे प्रयुक्त किया है उसे हम हिन्दी भाषा-भाषी सर्वथा भूल गये है। यह शब्दार्थ-परिवर्तन हमे कही का कही पहुँचा देता है। हि० श० सा० मे थकना निम्न रूप मे दिया गया है :—

'थकना—क्रि० अ० [सं०स्था+$\sqrt{}$कृ] १. परिश्रम करते करते शिथिल होना, क्लांत होना। २. ऊब जाना, हैरान हो जाना। ३. बुढापे से अशक्त होना। ४. ढीला होना या रुक जाना, चलता न रहना। ५. मोहित होना, मुग्ध होना।' कोष का उक्त अर्थ और व्युत्पत्ति कुछ मात्रा मे अशुद्ध है। पाठक जानते ही होगे कि बँगला मे 'थाके' रहना शब्द है। यह शब्द स्था+कृ से नही स्था धातु से ही निकला है और प्राकृत मे इसका रूप थक्क है। यह स्था+कृ नही स्था का ही रूप है। बहुत सभव यह भी है कि थक्क रूप

संस्कृत स्थग् से निकला हो जिससे हिन्दी में स्थगित (रोका हुआ, मुलतवी) निकला है। प्राकृत में थक्क का अर्थ 'श्रम, थका हुआ' आदि भी है। इसमें ४ थक्क हैं। पहले का अर्थ स्थिर होना, रहना भी है। इस पहले थक्क से ही बँगला थाके आया है और दूसरे प्राकृत थक्क से हमारा थकना भी निकला है। तुलसीदास के समय थाकत, थकना आदि का अर्थ बोली में श्रम से चूर होना भी रहा होगा, किन्तु तुलसी के निम्न उदाहरणों में यह अर्थ नहीं है :—

थके नयन रघुपति छबि देखी।
पलकन्हिहूँ परहरी निमेषी॥

इसका अर्थ यह नहीं है कि 'रामचंद्रजी का सुन्दर रूप देखकर लोगों की आँखें ऊब गयीं और पलकों ने लगना छोड दिया।' यहाँ थकने का अर्थ है कि रामजी का सुन्दर रूप देखकर लोगों की आँखें उनकी ओर एकटक निहारने लगीं और देखते ही रह गयीं, तथा पलकों ने लगना छोड़ दिया। थकने का अर्थ यहाँ 'एक स्थान पर स्थिर होना' है। यही अर्थ नीचे लिखी चौपाई में भी लगता है :—

अति अनूप जहाँ जनक निवासू।
थियकहि विबुध विलोकि विलासू॥

'जनक का महल देखकर देवता उसके सौन्दर्य पर इतना मुग्ध हो जाते हैं कि वे बहुत देर तक वहाँ एक ही स्थान पर स्थिर रह गये (हटने का नाम नहीं लेते)।' 'थकित होत जिमि चन्द चकोरा' का अर्थ है चंद्रमा को देखकर जैसे, चकोर स्थिर होकर उसे देखते ही रह जाता है'। सूर के कई गीतों में थकना शब्द का यही अर्थ है। कृष्ण भगवान् की वंशी सुनकर जमुना का जल, जहाँ का तहाँ अचल, अटल रह जाता है। सूर ने कई स्थानों पर थकना का यही अर्थ प्रयुक्त किया है।

एक शब्द जिसके अर्थ मे हम लोग भ्रम में फंसे है वह है सँभारना। तुलसी मे सँवारना, सम्भालना और सँभारना शब्द मिलते हैं। सँभारने का अर्थ है 'स्मरण करना'। यह अर्थ बहुत कम लोग जानते हैं। स्मरण का प्राकृत प्रति रूप सँभरण है। उस सँभरण से तुलसी ने हिन्दी धातु सँभारना बनाया है। तुलसी की एक चौपाई है :—

दीनदयाल बिरद सम्भारी।
हरहु नाथ मम सकट भारी॥

इसका अर्थ है—'हे नाथ ! तुम्हारी उपाधि दीनो पर दया करने वाली है, इसे स्मरण कर मेरे महान् संकट को हरो।' एक और चौपाई है :—

जे गावहिं एहि चरित सँभारे ।
ते एहि ताल चतुर रखवारे ॥

इसका अर्थ है 'जो इस चरित के कुछ पदों या सारे को याद करके गाते है वे इस मानस के चतुर रखवाले हैं।' और देखिये :—

तेहि खल पाछिल बयरु सँभारा ।

इसका अर्थ है 'उस दुष्ट ने पुरानी दुश्मनी का स्मरण किया।' यदि हम इस सँभारना का अर्थ सँभालना करेंगे तो अर्थ चौपट हो जायगा। तुलसी की कविता हिन्दी साहित्य मे सर्वोच्च स्थान रखती है। इस विषय मे किसी को कोई सन्देह नही हो सकता। इस पर भी हमको तुलसी के अपने सभी कवियो के साहित्य को सूक्ष्म भाषाशास्त्रीय दृष्टि से देखना चाहिए। इतना ही क्यों, साहित्यिको का धर्म है कि वे अपने साहित्य के रत्नो की परख करें और उनमे गुण-दोष देखें। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदीजी ने 'कालिदास की निरंकुशता' नामक लेखमाला मे कालिदास जैसे प्रसिद्ध महाकवि के दोषो का विवेचन किया। मैंने तो इस लेख में तुलसी की भाषा और शब्दों के केवल कुछ तथ्य प्रकट किये है जो भाषा-विज्ञान-सम्मत हैं। मेरी प्रबल इच्छा यही है कि हिन्दी मे हमारे विद्वान् और विश्वविद्यालयो के छात्र अपनी प्यारी भाषा की भली-भांति चीर-फाड कर उसके अग-प्रतिअंग से परिचित हों।

यह मुश्किल जबाँ है, नहीं दाग आसाँ ।
ये आती है हिन्दी जबाँ आते आते ॥

वैदिक-संस्कृत के प्राचीन कोश

भारत में कोशों का अस्तित्व छब्बीस सौ वर्ष से अधिक काल से मिलता है। पहला निघंटु यास्क ने प्रकाशित किया। संभवतः यह निघंटु किसी प्राचीन आचार्य ने रचा था और यास्क ने इसे प्रकाशित किया और इस निघंटु के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए संसार में पहले-पहल उसके शब्दों की निरुक्ति देने का प्रयत्न किया। वास्तव में बिना निरुक्ति अर्थात् शब्द के बारे में उसके अर्थ को खोलने के लिए उसकी व्युत्पत्ति दिये, कोई कोश पूरा नहीं कहा जा सकता। शब्दों की निरुक्ति अर्थात् वेद के शब्दों पर नि.शेष उक्ति न मिलने के कारण कौत्स ने कहा—अनर्थका हि मंत्राः। तदेतेनोपेक्षितव्यम्। नियतवाचो युक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति। "(वेदों के) मंत्र (अर्थ का) अनर्थ करते हैं। इस कारण उपेक्षा करने योग्य हैं। बोलने का उचित ढंग वह है जिसमें शब्दों के अर्थ नियत हो गये हों और बहुत पहले से।" कौत्स एक विद्वान् था। उसे वेदों के अर्थ में असगति मालूम हुई। उसने सब के सामने अपनी आलोचना रखी होगी। यास्क भी उद्‌भट पंडित था, उसके पास निघंटु था ही। पर बिना शुद्ध व्युत्पत्ति का कोश मानी नहीं रखता। कौत्स की स्पष्ट और उग्र आलोचना से यास्क की आँखें खुली। वह तुरंत ताड़ गया कि शब्द का निरा अर्थ स्वयं विद्वानों की बुद्धि के बाहर है। इस कारण उसने शब्दों की निरुक्ति अर्थात् प्रत्येक शब्द के बारे में नि.शेष उक्ति देने की आवश्यकता समझी। नि.शेष कथा (उक्ति), व्युत्पत्ति (=विशेष या विस्तृत उत्पत्ति) नहीं है। एक उदाहरण लीजिए। हिरण्य की निरुक्ति में यास्क ने कुछ इस प्रकार दिया है—ह्रियते वा ह्रियते वा हितं रमणीयं भवतीति वा अर्थात् 'सोना हिरण्य इसलिए कहलाया कि वह चमचमाता है, लोग उसे हरते हैं (अथवा वह हरा जाता है) या वह भला और रमणीय है।' इससे कोई निश्चित अर्थ हाथ नहीं लगा। पर, हिरण्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यास्क के समय जितनी उक्तियाँ या बातें मालूम थी वे इस विद्वान् ने शोधकों के सामने रख दी। अब यूरोपियन पंडितों ने निदान कर दिया है कि हिरण्य मूल में हरण्य था और हर् 'आग की भाँति चमकना' से निकला है। अवेस्ता में हमारे ह की ध्वनि ज़ में बदल जाती है,

उसमें यह रूप जरण्य है तथा फारसी मे आज भी जर 'सोना' चलता है। यह पक्की छानबीन व्युत्पत्ति कहलाती है। निरुक्ति अपने समय में बड़ा काम कर गयी और आज भी व्युत्पत्ति के शोधकों की सहायता कर रही है। भारत और आर्यों के लिए महान् गर्व की बात है कि निरुक्ति और व्युत्पत्ति की शोध सर्वप्रथम भारत के आर्यों ने की। आजकल के भाषाशास्त्र का यह सर्वमान्य सिद्धान्त भारत में ढाई हजार से अधिक वर्ष पहले आविष्कृत हुआ था। यास्काचार्य ने एक प्रकार से कोशशास्त्र और कोश की नींव डाली। इस तथ्य के आगे विश्व के भाषाज्ञानियों ने सर झुका दिया है। निरुक्त के पहले तीन अध्याय नैघटुककांड कहलाते हैं। इनमें वैदिक शब्दों का छोटा कोश है। इनमे नदी, रात्रि आदि के नाम हैं। इनके अंत में बताया गया है—इति त्रयोविंशतिरात्रिनामानि। चौथा अध्याय नैगमकांड नाम का है, इसे ऐकपदिक भी कहते है। इसमें कठिन शब्द दिये गये हैं और नानार्थ भी है। पाँचवाँ अध्याय दैवतकांड है, उसमें पृथ्वी, अंतरिक्ष और आकाश के देवताओं के नाम गिनाये गये हैं। निरुक्त मे इन शब्दों की निरुक्ति है। निरुक्त वेद का एक अंग है। निरुक्त गद्य मे है। बाद के संस्कृत के कोश सभी पद्य मे है। कुछ प्राचीन संस्कृत कोशों के नाम मिलते हैं, किन्तु उनके ग्रंथ नहीं मिलते। व्याडि का एक श्लोक मिलता है। हलायुध के कोश के आरंभ के दूसरे श्लोक मे है—

इयममरदत्तवररुचिभागुरिवोपालितादिशास्त्रेभ्यः।
अभिधानरत्नमाला कविकण्ठभूषणार्थमुद्ध्रियते॥

ये अमरदत्त, वररुचि, भागुरि, वोपालित कोशकार हैं जिनके ग्रंथों से हलायुध ने सहायता ली। अमरकोश की पुरानी टीकाओं मे कात्य, कात्यायन, मुनि नाम आते है। अमरसिंह से पुराने रन्ति या रन्तिदेव, रभस या रभसपाल माने जाते हैं। पुरुषोत्तम ने पुराने कोशकारों मे अपनी हारावली के अन्त मे वाचस्पति, व्याडि और एक विक्रमादित्य के नाम गिनाये है। उसका श्लोक यह है—

शब्दार्णव उत्पालिनी संसारावर्त इत्यपि।
कोषा वाचस्पति-व्याडि-विक्रमादित्यनिर्मिताः।

इससे पता चलता है कि वाचस्पति ने शब्दार्णव बनाया, व्याडि ने उत्पलिनी और विक्रमादित्य ने संसारावर्त नामक कोश रचा। इनसे भी पुराना कोश कात्य या कात्यायन की नाममाला माना जाता है। यह कोश प्राय: पैंसठ

वर्ष पहले छपा था। अब इसका पता नहीं चलता। व्याड़ि का आधा श्लोक कुछ टीकाओं में मिलता है। वह है—

बोधिः स्वबोधनम् ज्ञानम् तन्मयो बोधिसत्वकः।

इससे आभास मिलता है कि व्याड़ि संभवतः बौद्ध थे। उनका नाम भी संस्कृत का नहीं, मध्य-भारतीय आर्य-भाषा (पाली, प्राकृत) का है। व्याड़ि संस्कृत व्याली का प्राकृत रूप लगता है। कोशों में व्याड़ और व्याल 'साँप' बताया गया है।

जो कोश छप चुके हैं, उनमें प्रायः सब १०००-१२०० तक के हैं। हलायुध कुछ पुराना माना जाता है। राजा सर राधाकांत देवबहादुर ने १८१९ के करीब अपना वृहत् कोश शब्दकल्पद्रुम प्रकाशित किया। इसमें कई पुराने संस्कृत कोशों का उल्लेख किया गया है। इन कोशों की संख्या प्रायः पचास है। इनमें कुछ टीकाएँ भी हैं। हमारे ये कोश केवल नाम (संज्ञा) तथा अव्यय देते हैं, क्रिया नहीं। क्रिया के लिए धातुपाठ हैं। वोपदेव ने धातुओं का कोश लिखा है। धातुओं के कोश का एक संग्रह आख्यान चन्द्रिका है।

संस्कृत कोशों की निघटु से कोई समानता नहीं है। निघटु में वैदिक नाम और धातु दिये गये हैं तथा साथ में अलग इन शब्दों की निरुक्ति भी दी गयी है, जो शब्दों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए अति आवश्यक है। यदि यास्क बिल की उत्पत्ति भिद् से नहीं बताता तो बिल 'छाती के बल रेंगनेवाले जीवों का निवास-स्थान' का अर्थ अस्पष्ट रह जाता तथा हमें पता ही न लगता कि द की ध्वनि ल में बदलती थी। हमारा **बारह** इसी ध्वनि-परिवर्तन का फल है। वैदिक-संस्कृत **द्वादश**, क्रमशः **दुवालस**, **बारस**, **बारह** हुआ। हिंदी का भला शब्द भद्र, भद्र-क से निकला है। इसी प्रकार यदि वराह शब्द के बारे में यास्क न बताते कि यह **वराहार** से निकला तो इसका अर्थ वैसा ही अस्पष्ट रहता जैसा जल, नीर, जालम आदि का। इस कारण, निरुक्तकार थोड़ा-बहुत कोशशास्त्र के सिद्धांत पर चला। वेदों का कोश होने के कारण, यास्क के निघटु के शब्दों के प्रयोग के प्रमाण भी वेदों में मिलते हैं, इस कारण यास्क का कोश किसी अंश में सव्युत्पत्तिक और सप्रमाण कहा जा सकता है। बाद के संस्कृत भाषा के कोश नामों तथा अव्ययों की नामावली या हारावली है। इनमें एक शब्द के पर्यायों का हार गूँथ दिया गया है। इसका कारण यह था कि संस्कृत-कोश किसी विशेष ग्रंथ में व्यवहृत शब्दों

का अर्थ स्पष्ट करने के लिए नही लिखे गये। स्वयं इन कोशकारों के कथन के अनुसार ये कवियो के सहायतार्थ लिखे गये, जैसा पाठक ऊपर हलायुध के वाक्य **'कविकंठविभूषणार्यमुद्धते'** से समझ जायेंगे। **वैजयंती** में लिखा है कि वह कोश **भूषणम् सत्कवीनाम** है। धनञ्जय ने अपना कोश **कवीनाम् हित् काम्यया** लिखा। धरणिकोश, **कवीनाम् सुख-हेतवे** लिखा गया। अभिधानचिन्तामणि ने यह उद्देश्य साफ नही लिखा पर १, ४ मे लिखा है—

भूमांश्चेति कविरूढ्या ज्ञेयोदाहृणावली।

'भूमान भी राजा का नाम है, क्योकि कवियों मे यह रूढ है। इनसे उदाहरण ले लेना चाहिये।' सबसे काम की बात **शीघ्रबोधिनी नाममाला** ने दी है। उसमे **पांडुरंग बिट्ठल** ने बताया है—*मैं इस कोश को* **कवेः शीघ्र-कवित्वाय** लिख रहा हूं। यह कोशो का काम रहा। लेखक को अपने एक नामी कवि के विषय में याद है कि वह प्रारम्भिक कविता भी, छुटपन मे करता था और अमर-कोश भी रट रहा था ताकि ललित-कलित शब्दों की, उसकी कविता मे भरमार रहे। पद्य मे होने से कोश शीघ्रता से कंठस्थ हो जाते थे। ऐसा पता लगता है कि उस समय के साधारण अर्थात् **'और कवि खद्योत सम जहँ-तहँ करत प्रकाश'** की श्रेणी मे आने वाले कवि लिंग की भूलें अधिकता से करते होगे, इसलिए कुछ कोशकारो ने शब्दो के साथ उनके लिंग भी बता दिये। अपने कोशो का नाम **'नामलिंगानुशासन'** रख दिया। उस समय जिन आवश्यकताओं की पूर्ति करनी थी, उन्हें ही ध्यान मे रखकर सस्कृत के कोश बने। *व्युत्पत्ति का कुछ महत्व* **हेमचंद्र सूरि** *समझ पाया था। सो व्युत्पत्ति* उसके **व्याकरण सिद्ध हेमचन्द्र** में दे दी गयी। इसलिए कोश मे इसकी आवश्यकता उसने भी नही समझी।

मध्यकालीन कोशों मे कई अति प्राचीन शब्द मिलते हैं। एक ऐसा शब्द सरस् है। यह **सरस्** नमक के लिए स्वयं वैदिक काल में था। पश्चिमी विद्वान् आश्चर्य करते हैं कि वेदों मे नमक के लिए कोई शब्द ही नही है। क्या वैदिक आर्य नमक नही खाते थे? वेद मे **सरस् 'लवण'** के लिए भी आया है। ऋग्वेद मे **इला** और **मही** के साथ सरस्वत् शब्द भी आया है। यह साफ ही समुद्र के लिए आया है। हेमचंद्र ने दिया है **लवणं सरः**। यह **सरस्** ग्रीक **हुलुस**, लैटिन **सल्, सेल्**, अँग्रेजी **सॉल्ट** आदि का प्रति-शब्द है और सिद्ध करता है कि वैदिक आर्य नमक को जानते तथा खाते थे। इन कोशों में इस तथ्य का एक और प्रमाण सुरक्षित है। ग्रीक **हुलुस लवण** और **समुद्र** दोनों के लिए है। हमारा

सरस् 'जल' भी है 'लवण' भी। ऋग्वेद में सरस्वत् 'जल से भरा' है। इस शब्द का अर्थ 'समुद्र' भी रहा होगा। इसके प्रमाण म० का० सं० कोश हैं। हलायुध ने दिया है—'रत्नाकरः सरस्वान्,' अमरकोश में है—'सरस्वान् सागरोऽर्णवः,' मेदिनीकोश में है—'सरस्वांश्च नदे चाब्धौ', आदि आदि। यह सरस्वान् सरस्वत् का रूप है और इसका अर्थ किया जाता है 'पानीवाला,' पर इसका अर्थ होना चाहिये 'खारी पानीवाला,' यहाँ सरस् 'लवण' अर्थ में आया है। इस दृष्टि से विचार करने से इन कोशों में अनमोल रत्न छिपे मिलेंगे। हिन्दी शब्द पाथोज लीजिए। यह शब्द तुलसी, सूर आदि में पाया जाता है। यह पाथः-ज है 'पानी में पैदा होनेवाला'। इस शब्द की रक्षा भी इन कोशों ने की है। पाथोज राजतरंगिणी में भी आया है। यह पा-थ है, पा 'पीना' -थ प्रत्यय है। यह दम-थ, विद-थ, वरू-थ आदि-सा ही है। वेद में यह शब्द 'स्थान, गृह, रक्षा का स्थान' अर्थ में है। 'जल' के अर्थ में बोली में संभवतः रहा होगा किन्तु साहित्य में इसका प्रयोग न हो पाया। इस संस्कृत और हिंदी शब्द की रक्षा इन कोशों ने की है। वन भी ऐसा ही शब्द है। यह हिंदी में वेदों से आया है। ऋग्वेद में है—क्षोदन्ते आप रिणन्ते वनानि। यहाँ वन 'नदी या जल' है। फिर यह शब्द निघंटु कोश में मिलता है। संस्कृत साहित्य में इस अर्थ में कहीं नहीं मिलता, केवल कोशों ने इस अर्थ में इसकी रक्षा की है। हलायुध में है—'अर्णः पाथः कुश जल वन' अमरकोश में जल के नामों में है—'जीवनं भुवनं वनम्' मेदिनीकर ने दिया है वन नपुंसकं नीर आदि। यदि ये कोशकार ढूँढ़-ढूँढ़कर इस शब्द को न पाते तो हिंदी में यह शब्द कैसे आता? संस्कृत में वन-ज का अर्थ है 'वन का रक्षक, जंगली' आदि 'कमल' नहीं। यह वन से बना हिंदी का अपना प्रयोग है। हिंदी समाचार के जोड़ का है। कुमाउनी में यह शब्द आज भी जीवित है। यहाँ वन-धार 'वर्षा के समय छप्पर से गिरनेवाली जल की धारा' है।

हिंदी में अनुपम को प्राचीन हिंदी की नकल पर अनूप भी लिखते हैं। यदि हम इन कोशों का सरसरी तौर पर भी अध्ययन करते तो यह प्रयोग अनुचित समझकर छोड़ देते। अनूप संस्कृत अनु-अप से बना है। अमरकोश में है :—जलप्रायमनूपं स्यात् पुंसि कच्छस्तथाविधः। अर्थात् अनूप 'जलमय देश या कच्छ' को कहते हैं। पुराने कवियों की बात छोड़िए, उनमें संस्कृत प्राकृत का ज्ञान साधारण होने के कारण सैकड़ों ऐसी अशुद्धियाँ भरी हैं, पर आज तो

हमारे विद्वानो को संस्कृत का अच्छा ज्ञान होना ही चाहिए। प्राकृत अणूष (=सं० अनूप) का अर्थ भी 'जलबहुल देश' है। विद्वानों को ऐसे विस्पष्ट शब्दो का व्यवहार छोड देना चाहिये। इन कोशो से पता चलता है और ठीक ही ज्ञान होता है कि पदवी का हिंदी प्रयोग भी ऐसा ही ग्रस्त है। वेदो मे पदवी का अर्थ 'नेता,' 'मार्ग' और 'खोज' या 'पदचिन्ह' है। रामायण मे 'स्थान' है। हिन्दी शब्दसागर मे लिखा है 'सं० उपाधि, खिताब।' यह अशुद्ध प्रयोग है। अवश्य यह हिंदी में चल गया है। किन्तु इस अर्थ के साथ इस शब्द को संस्कृत बताना भूल है, क्योकि संस्कृत मे यह हिंदी अर्थ कही नही पाया जाता। हलायुध ने लिखा है—**अयनं पदवी मार्गः**; अमरसिंह का मत है—**अध्वान: पदवी सृतिः**। इससे पता चलता है कि हिंदी मे यह शब्द सस्कृत से अनभिज्ञ किसी लेखक ने चलाया होगा और अल्प-शिक्षित जनता ने 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' समझकर इसे इस अर्थ मे अपना लिया। ऐसा एक शब्द **उपन्यास** है। अमरकोश मे है—**उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्**। इसके टीकाकार महेश्वर ने बताया है—**उपन्यास: वाङ्मुखम्, इति वचनारम्भस्य**। इसका अर्थ हुआ किसी पुस्तक या निबंध का आरंभ, **उपन्यास** और **वाङ्मुखम्** कहा जाता है। **उपन्यास** का यही अर्थ होता है। आरम्भ मे हिंदी मे बँगला का मान था। किसी बगाली ने न मालूम किस कारण से अपने नावेल का नाम उपन्यास रखा? वह भेडिया-धसान न्याय से हिंदी मे चल पडा। सार यह कि हिंदी विद्वानो को मध्यकालीन इन कोशो से बहुत ज्ञान शब्दों का मिल सकता है, जिससे वे शब्दो के मूलभूत अर्थ जानकर शब्दों का सुललित और उचित प्रयोग कर सकते है।

हिन्दी शब्दो की ठीक व्युत्पत्ति भी इन कोशों द्वारा प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, हिंदी शब्दसागर मे **भतीजा** शब्द की व्युत्पत्ति **भ्रातृज** दी गयी है। यह शब्द न किसी व्याकरण मे है और न साहित्य मे कभी काम मे लाया गया है। इन कोशो मे **भ्रात्रीय** इसी अर्थ मे मिलता है, यह पाणिनि ने दिया है। इसका प्राकृत रूप ध्वनिपरिवर्तन के नियमो के अनुसार **भत्तिज** होता है। प्राकृत मे भत्तिज का प्रयोग मिलता है। पाइअ-सद्द महण्णवो मे इसका सस्कृत मूल **भ्रातृव्य** दिया गया है, जो सर्वथा अशुद्ध है, क्योकि **भ्रातृव्य** का यदि प्राकृत रूप रहा होगा तो वह **भत्तिव्व** होता न कि **भत्तिज्ज**। **व्य** का प्राकृत मे **व्व** होता है। जैसे **काव्य** का प्राकृत **कव्व** होता है और—**कव्य** का भी **कव्व**। **भव्य** का **भव्व** होकर **हव्व** हो जाता है और **हव्य** का प्राकृत रूप भी **हव्व** है।

इस कारण व्यकाज्ज कभी नही हो सकता । यह महण्णवो के लेखक *हरगोविंददास सेठजी की भूल है। महण्णवो मे ध्वनि परिवर्तन के नियमो की* नाना स्थानों में हत्या की गयी है। यह उनमे से केवल एक है। और देखिए कि मनमानी व्युत्पत्ति देने के कारण हिंदी शब्द-सागर भूलों से भरा-पूरा है। उसमे **मथानी** की व्युत्पत्ति **मथना** से दी गई है। किन्तु अमरकोश में है— **वैशाख मन्थ मन्थान मन्थानो मन्थदण्डके**। तब मथना देने की क्या आवश्यकता है? क्या **मन्थान** से **मथानी** नही हो सकती? देशी प्राकृत मे **मंथणी** है। यह शब्द डेढ हजार वर्ष पहले चलता था तब हिंदी कहाँ थी? कोश में व्युत्पत्ति देते समय विद्वान् कोशकारो को व्युत्पत्ति का ऐतिहासिक और तुलनात्मक ध्यान रखना चाहिये, अन्यथा स्वभावतः भूलें रह जायेंगी। **भत्ता** शब्द लीजिये। **भरण** 'भोजन आदि का व्यय' है। हि० श० सागर ने इसे **भरण** से निकाला है, जो एकदम गलत नही कहा जा सकता, साथ ही शुद्ध भी इस कारण नही कहा जा सकता कि म० का० कोशों में **भत्ते** के लिए *भृत्या* मिलता है। *यह साहित्य* मे भी है। अमरकोश में है—**कर्मण्या तु विद्या भृत्या**। ऐसी ही शब्द— **भृतिर्भृत्या च कर्मण्या** हलायुध मे है। सभी कोशो में ये शब्द है। इन्हें पढ़कर कोशो मे शुद्ध व्युत्पत्ति दी जा सकती है।

इन कोशो से यह भी पता चलता है कि विदेशी शब्द बहुत पहले से भारत आ गये थे और सस्कृत मे घुल-मिल गये थे। **पीलु** शब्द ऐसा ही है। प्राय. पन्द्रह सौ साल से इसने सस्कृत मे प्रवेश कर लिया था। हमारा **विद्यापति** पहलवी मे विकृत होकर **पिल-पई** बन गया था इसका अर्थ था। 'हाथी के-से पाँववाला' । *वर्तमान फील-पाँव भी 'हाथी के-से पाँव' होने का रोग है।* हलायुध मे है—**पीलुश्च गजवृक्षयोः** । मेदिनीकोश में बताया गया है— **पीलु**.......**मतंगजोः**। यह शब्द सभी कोशो मे है। न्याय दर्शनवालों ने **कोकिल**, **तामरस** और **नेम** शब्द विदेशी बताये हैं। ये कोशो मे वर्तमान है। हि० श० सागर मे पीलु संस्कृत बताया गया है। 'हाथी' अर्थ मे तो यह स्पष्टतः फारसी है। 'नीम' की व्युत्पत्ति फारसी दी गयी है। फारसी मे नीम शब्द इस अर्थ मे है। इतना ही नही अवेस्ता मे इसका रूप **नएम** है। संस्कृत मे यह **नेम** है जो न-इम की संधि है। इसका अर्थ भी 'आधा' है। एक अर्थ 'ये नही' भी है। निरुक्त ने इसका अर्थ 'आधा' बताया है। ऋग्वेद मे एक शब्द **नेम-धीति** है, इसका अर्थ है **'युद्ध'**। मूल अर्थ है 'आधे (इधर) आधे (उधर) खड़े'। देवासुर-संग्राम के **नेमे देवाः नेमे असुराः** मे इसका एकमात्र अर्थ 'आधे देवता,'

सम्राटः 'अन्य राजाओं के साथ राज्य करने वाला'

हिंदी और सस्कृत मे सम्राट (सम्-राट्) और साम्राज्य का अर्थ साम्राज्यवाद की गध देता है। अशोक ने अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिये उडीसा मे जो जन-नाश किया वह प्रसिद्ध ही है। इस प्रलय काड से अशोक का नाम चडाशोक पडा। किंतु सदा ऐसा नही हुआ। भारतीय आर्य आरभ से ही जनतत्री रहे। ऋग्वेद मे स्वय इस तथ्य के प्रमाण प्रचुर मात्रा मे मिलते है। एक गणपति शब्द सिद्ध करता है कि उस समय गण और उसके पति अर्थात् रक्षा करने वाले नेता वर्तमान थे। गण के अध्यक्ष गणपति कहलाते थे। ऋग्वेद मे है—

गणानां त्वा गणपति हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्त मम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पात आनः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि गणो के पति या गणाध्यक्ष अपने गण के राजा कहे जाते थे। ज्येष्ठराज का यही अर्थ है। साथ ही गण या ग्राम की सभा होती थी तो उसके सभी सदस्य या सभासद (सभा मे बैठने और परामर्श करने का अधिकार रखने वाले) राजा उपाधि से विभूषित किये जाते थे तथा गणाध्यक्ष की एक उपाधि ज्येष्ठराज अर्थात् राजाओ में सबसे बडा राजा थी। इससे विद्वान पाठक समझ जायेंगे कि वैदिक काल मे राजा शब्द का मुख्य अर्थ सभा या समिति मे बैठने और परामर्श देने का अधिकार रखने वाला था। ऋग्वेद १०, ९७, ६ में है—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव,
विप्र स उच्यते भिषग्रक्षोहामविचातन।

अर्थात् इसी प्रकार घाव अच्छा करने वाले और रोगो का नाश करने वाले भिषक् के पास सब औषधिया एकत्र होती थी। जिस प्रकार समिति मे राजा एकत्र होते हैं।

इस वाक्य से भी सिद्ध होता है कि वैदिक राजा का अभिप्राय संस्कृत में प्रयुक्त राजा शब्द से भिन्न था। अब प्रश्न उठता है कि सभा का साधारण सदस्य बाद को एकतंत्री राजा या Rex कैसे बन गया? इसका ठीक उत्तर राजा की व्युत्पत्ति देती है। वैदिक तथा संस्कृत में राज् धातु का पहला अर्थ 'चमकना' है। इस कारण राजा का अर्थ जो अपनी योग्यता और गुणों से चमकता है। सभा और समिति के सद या सदस्य जो अपनी बुद्धि, विद्या आदि गुणो से गण या जनता में चमकने लगे वे सभाओ मे परामर्श देने के लिये चुने गये और राज् के अर्थ के अनुसार राजा कहलाने लगे।

ऋग्वेद १, ४५, ४ में है—**राजंतमध्वराणामग्निं शुक्रेण शोचिषां।** अर्थात् 'शुक्ल ज्योति से यज्ञो मे चमकने वाली (तुझ) अग्नि को'। ऐसे उदाहरण ऋग्वेद मे अनेक मिलते है।

महाभारत मे है—

राजते भैमी सर्वाभरणभूषिता वनानि कुसुमैः······ रेजु.। आदि आदि।

परिणाम यह हुआ कि इस प्रकार के योग्य मनुष्यो के हाथो मे स्वभावतः शक्ति आयी और समाज उनका लोहा मानने लगा। अतः **राज् धातु** का दूसरा अर्थ 'राज करना' हो गया। यह दूसरा अर्थ राज् के मूल अर्थ 'चमकना' का विस्तार है। यही क्रम ऋग्वेद के कोशकार ग्रासमान ने भी दिया है। इसलिये मानना पड़ेगा कि वैदिक राजा बाद के राजाओं से भिन्न थे। उनके अधिकार और कर्तव्य दूसरे थे, जिन्हे गण या जनता समझती थी कि ये हमारी रक्षा और प्रतिदिन के जीवन निर्वाह का उचित प्रबंध करने में अपनी विद्या, योग्यता आदि से व्यवस्था कर पायेंगे, उन्हे सभा, समिति आदि में निर्वाचित कर राजा बनाती थी। उस समय का निर्वाचन प्रत्यक्ष और विदथ, सभा आदि मे एकत्र होकर गण के लोग स्वयं कर लेते थे। यह अप्रत्यक्ष नही साक्षात होता था। तो भी इस चुनाव में जनता की इच्छा पर ही परिणाम निर्भर करता था। ऐसे एक राजा या सभा के सदस्य के विषय में ऋग्वेद के सूक्त १०, १७३, १ में कहा गया है—

विशः त्वा सर्वाः वाञ्छन्तु।

अर्थात् सारी जनता तुझे चाहे (तू जनपद का संचालन करे)।

उक्त वाक्य के आधार पर स्व० काशी प्रसाद जायसवाल ने बताया है कि वैदिक काल में जनता राजा का चुनाव करती थी। यह मत उचित ही है

किस प्रेम, सहयोग और परस्पर मिलकर राज कर रहे हैं। कौटिल्य ने लिखा है--

द्वैराज्य वैराज्ययोः द्वैराज्यम् अन्योन्यपक्षद्वेषा--
नुरागाभ्याम् परस्परसंघर्षेण वा विनश्यति ॥

अर्थात् द्वैराज्य और वैराज्य में द्वैराज्य (दोनो राजा) अपने और पराये पक्ष से अनुराग तथा द्वेष होने के कारण व परस्पर मे संघर्ष पैदा हो जाने से द्वैराज्य नष्ट हो जाता है। किंतु तमाशा देखिये और वैदिक संस्कृति की भूरि-भूरि प्रशसा कीजिये कि उस काल मे द्वैराज्य की धूम थी और ऋग्वेद के अनुसार दोनो राजा केवल प्रजा के हित की चिंता करते थे। न उन्होंने दल बनाये, न पक्षपात किया और न ही उनमे आपस मे कोई संघर्ष चला। ये ऋग्वेद ५, ६२, ६ के अनुसार 'सुकृते परस्परा' रहे। ये सदा धृतव्रत रहे। जो विधि विधान स्थिर किये गये, उनसे एक अंगुल भी इधर या उधर न हटे। राजा और जनता के 'परस्परं भावयन्तः' की यह उच्च स्थिति केवल वैदिक काल में देखी गयी। यही कारण है कि उस समय समृद्धि बांधे सबके दरवाजों पर खडी रहती थी। सच है--

राजा कालस्य कारणम्।

वैदिक काल में राजा जनता द्वारा निर्वाचित किये जाते थे और जनता की इच्छा के अनुसार राज्य चलाते थे, इसका प्रमाण ऋग्वेद ५, ३०, १४ और १५ से भी मिलता है--

औच्छत्सा रात्री परितक्म्या ऋणंचये राजनि रुशमानाम्।
अत्यो न वाजी रघुरज्यमानो बभ्रुश्चत्वार्यसनत्सहस्रा ॥ १४ ॥

अर्थात् वह रात बीती और प्रातः काल हुआ जब रुशमों के राजा ऋणंचय ने बभ्रु ऋषि को चार हजार गायें दान दी। १५वी ऋचा मे है--'हे अग्नि ! (बभ्रु ने) रुशम (नामक जनता या जनपद में) से चार हजार गायें प्रतिग्रहण की।

इन ऋचाओ मे विशेष महत्व वाली ध्यान देने की बात यह है कि पहली ऋचा में रुशमो के राजा ऋणंचय का नाम है कि उसने बभ्रु को चार हजार तेज गायें दी और दूसरी अर्थात् १५वी ऋचा मे स्पष्ट ही लिखा है कि रुशम नामक जनता या जनपद ने बभ्रु को ये गायें दी। इससे सिद्ध होता है

कि राजा और उसके जनपद की जनता मे भेद नहीं था। राजा ऋणंचय ने दशमों की इच्छा से अथवा कहिये आदेश मे यह दान किया। ऐसे गणतंत्रों मे अध्यक्ष राजा की उपाधि से अलंकृत होता था। अन्यथा यह समझिये कि सारी जनता भी राजा थी और उसे सदा यही चिंता रहती थी कि हमारा राष्ट्र या जनपद कैसे समृद्ध हो और उसकी समृद्धि की रक्षा कैसे की जाय। महाभारत मे कहा गया है कि उत्तर कुरु में ऐसा ही राजा था। बल्कि वहां राजा की भी आवश्यकता नही पड़ी। सभी राजा थे और सब अपने राष्ट्र की भलाई के ध्यान से एक दूसरे की रक्षा करते थे—

तस्मिन् देशे न राजासीत् न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा. रक्षंतिस्म परस्परम्।

अर्थात् उस देश (उत्तर कुरु) मे न तो राजा था, न पुलिस और न कोतवाल, प्रजा धर्म में रत थी और इसी धर्म के सहारे एक दूसरे की रक्षा करती थी। यह कभी हमारे चरित्र की महिमा थी जिसका आज पता या चिह्न नहीं मिलता। इतना तो इस लेखक ने भी कुमाऊं के पहाड़ों मे देख रखा है कि मकानों मे वहीं ताले नही पडते थे। चोरी का नाम ही न था। अतिथि की आवभगत सर्वत्र थी। आदि-आदि। कुमाऊं भी कभी उत्तर कुरु में था। कुछ झलक मैंने भी उत्तर कुरु मे धर्मराज्य की देखी थी। उस समय घी तीन सेर का था, दूध दही की नदियां बहती थी किंतु आज वहां सर्वथा दूसरा ही दृश्य दिखाई देता है। ऋग्वेद मे तीन-तीन सम्राटों का उल्लेख है। ७, ३८, ४ मे लिखा है—

अभि सम्राजो वरुणो गृणन्त्यभि मित्रासो अर्यमा सजोषाः।

अर्थात् "(हमारे इस सवन या सोमयज्ञ के सोम को) वरुण, मित्र और अर्यमन् ये (तीनो) सम्राट प्रेम मे स्वीकार करें।" आजकल सम्राट का जो अर्थ शाहंशाह याने राजाओं का राजा है। हमारे वर्तमान अर्थ की दृष्टि से तीन सम्राटों का एक साथ राज करना असंभव है। तब वरुण, मित्र और अर्यमन् सब ही सम्राट कैसे हो गये? ये इसलिये सम्राट कहलाये कि एक समिति मे एक साथ बैठकर राज करते थे। सम्-राट् का अर्थ पाठक पहले ही समझ चुके हैं। यह सम्राट कैसा गुणी होना था, इसका कुछ परिचय ऋग्वेद ६, ७, १ में दिया गया है। अग्नि (वैश्वानर) के विषय में कहा गया है—

कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः।

अर्थात् सम्राट विद्वान, सब जनता का अतिथि, जनता के पास में रहने वाला और सबकी रक्षा या पालन करने वाला होता था। १८, १६, १ मे गाया गया है—

प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भि. नर नृषाहं मंहिष्ठम्।

इसकी टीका मे सायण ने लिखा है—

चर्षणीनां मनुष्यांणा मध्ये सम्यग्राजन्तम्।

अर्थात् मनुष्यो के बीच मे जो विराजमान होता है, उनके बीच मे अपने गुणो से चमकता है। इसके साथ-साथ सम्राट की यह तारीफ है कि वह 'नर' है नरों को वश मे रखता है अतः औरो से बड़ा है। ये गुण ध्यान देने योग्य है। उनसे पता चलता है कि यह ऐसा नर था जो अपने समान ही मनुष्यो मे अपने गुणो में श्रेष्ठ माना जाता था। लैटिन मे ऐसे 'सम्-राज' को अपने समान ही मनुष्यों मे प्रथम या श्रेष्ठ (Primus unter Pares) कहते थे। जनता इन 'सम्-राजो' का भी उनके गुणों, उनकी योग्यता का राष्ट्र हित तथा जन-हित की दृष्टि से मूल्याकन कर उनको वरती थी या निर्वाचन करती थी। वे जन्म से ही सम्-राट् पैदा नही होते थे। ऋग्वेद ८, २७, २२ मे कहा गया है—

वयं तद्वः सम्राज आ वृणीमहे पुत्रो न बहुपाय्यम्।

अर्थात् '(हे विश्वदेवा!) हम तुमको सम्राट रूप से वरण करते हैं। तुम (अपने) पुत्र की भांति जनता (बहुतों) की रक्षा करते हो।' इस ऋचा से सब विश्वेदेवा सम्राट रूप से संबोधित किये गये हैं। ये सम्राट प्राय. अनगिनत हो गये। इससे पाठक सम्राट और साम्राज्य शब्दो के वैदिक काल मे क्या अर्थ थे, यह जान गये होगे। भारत मे बौद्ध काल और सिकन्दर के आक्रमण के समय तक गणतंत्र वर्तमान थे। कौटिल्य ने गणतन्त्रो का उल्लेख किया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी मे भी उनका उल्लेख है। शासन के आदि रूप भारतीय आर्यों मे गणतंत्री थे। ऋग्वेद १०, ११२, ९ में कहा गया है—

नि सुषीद गणपते गणेषु त्वां आहुः विप्रतमम् कवीनाम्।
न ऋते त्वत् क्रियते किंचन आरे······················॥

अर्थात् हे गणपति तू गण मे आराम से बैठ। तू विद्वानों मे श्रेष्ठ है। (बिना तेरी सम्मति के) हम छिपकर आड मे कुछ नही करते। यह था गण-पति का महात्म्य, क्योकि वह अपनी सारी शक्ति गण या जनता की उन्नति

और रक्षा मे लगाता था। वह अपने धर्म और कर्तव्य को भली-भांति समझता था इसलिये—

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं। २, २३, ४।

अर्थात् '(हे गणपति) तुम हमे सु-नीति के पथ पर आगे बढाते हो और जन या गण की रक्षा करते हो।' गण-नायक की योग्यता की यह प्रशंसा है। ऋग्वेद में अधिक स्थानों पर राजों सम्राटों और गणपतियो के कर्तव्य ही गाये गये है, अधिकार नहीं।

सम्राट एक साथ राज करते थे यह बात एक ऋचा से बिल्कुल ही स्पष्ट और सिद्ध हो जाती है। इससे यह तथ्य भी भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि सम्राट एक साथ मिलकर अपने जनपद का प्रबंध करते थे। ये मिलकर गण का कारबार ईमानदारी से चलाते थे। कुछ नेता जो जनता के द्वारा वरण किये जाते थे और राज व्यवस्था मे विशेष महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व का भार वहन करते थे, सम्राट कहलाते थे। यह ऋचा १०, ८५, ४६ है—

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥

इस पर सायण की टीका है—

हे वधु श्वशुरादिषु त्वं सम्राज्ञी भव।
देवृषु (देवरेषु इत्यर्थः)।

उक्त ऋचा बहू को अपने पति के घर जाते समय का आशीर्वाद है।

पुरोहित बहू से कहता है—अपने ससुर की सम्राज्ञी हो, अपनी सास की सम्राज्ञी बन, ननद की भी सम्राज्ञी हो जा और देवर की सम्राज्ञी बन। पाठक यहा सम्राज्ञी के अर्थ पर थोड़ा भी विचार करेंगे तो अर्थ स्पष्ट हो जायगा। उक्त ऋचा का अर्थ यह नही है कि बहू को ससुराल की सम्राज्ञी याने ससुर, सास आदि के ऊपर रानी बनाया जा रहा है। संसार में कहीं ऐसी रीति न थी कि ससुराल आते ही बहू सारी गृहस्थी पर रानी बन कर बैठ जाय। भारत में भी ऐसा कभी न हुआ, अतः सम्राज्ञी यहाँ वैदिक सम्राट का स्त्रीलिंग है और इसका अर्थ है 'सहचरी, साथ में प्रबंध करने वाली।' इससे वैदिक सम्राट का अर्थ सोलह आने स्पष्ट हो जाता है और इसे पाठक भली-भांति समझ जायेंगे कि सम्राट औरो के साथ मे राज्य करने वाला था।

अर्थात् सम्राट विद्वान, सब जनता का अतिर्
वाला और सबकी रक्षा या पालन करने वाला होता
गया है—

प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः

इसकी टीका में सायण ने लिखा है—

चर्षणीनां मनुष्यांणा मध्ये सम्य

अर्थात् मनुष्यों के बीच में जो विराजमान ह
गुणों से चमकता है। इसके साथ-साथ सम्राट को
है नरों को वश में रखता है अतः औरों से बढ़
है। उनसे पता चलता है कि वह ऐसा नर था ज
अपने गुणों में श्रेष्ठ माना जाता था। लैटिन
समान ही मनुष्यों में प्रथम या श्रेष्ठ (Primu
जनता इन 'सम्-राजों' का भी उनके गुणों, उ
तथा जन-हित की दृष्टि से मूल्यांकन कर उनको
थी। वे जन्म से ही सम्-राट् पैदा नहीं होते
कहा गया है—

वयं तद्वः सम्राज आ वृणीमहे पु

अर्थात् '(हे विश्वदेवा !) हम तुमको सम्र
(अपने) पुत्र की भांति जनता (बहुतों) की रक्ष
विश्वेदेवा सम्राट रूप से *संबोधित किये गये हैं*
गये। इससे पाठक सम्राट और साम्राज्य श
थे, यह जान गये होंगे। भारत में बौद्ध काल
समय तक गणतंत्र वर्तमान थे। कौटिल्य ने
पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी उनका उ
भारतीय आर्यों में गणतंत्री थे। ऋग्वेद १०, १

नि सुषीद गणपते गणेषु त्वां आहुः
न ऋते त्वत् क्रियते किंचन आरे···

अर्थात् हे गणपति तू गण में आराम से
(बिना तेरी सम्मति के) हम छिपकर आह मे
पति का महात्म्य, क्योंकि वह अपनी मार

संस्कृत के महापंडित, ये जर्मन !

(कुर्टिउस और वाकर नागल)

घटना प्रायः सौ साल पहले की है। उस समय जर्मन (और सभी प्राच्य विद्या-विशारद) वैदिक तथा संस्कृत भाषा के क्षीरसागर का सोलह आना मथन करके वे अनमोल रत्न निकाल चुके थे कि इनके परिणामस्वरूप उनके सामने भारोपा भाषाओं का एक और विशालतर सागर आ गया जिसे मथकर और भी उत्तम रत्न निकालने की उन्हें सूझी। एक महापंडित कुर्टिउस भी भारोपा भाषाओं का मथन कर रहा था। उसने अपने बुढ़ापे में अपनी खोज पर चार चाँद लगाये और एक ग्रन्थ लिखा जिसका नाम था Grundriss Der Griechischen Philologie अर्थात् ग्रीक भाषा-शास्त्र की आधारभूमि। इस ग्रन्थ में उसने सात आठ सौ ग्रीक भाषा के ऐसे शब्द एकत्र किये जिनका प्रचार आर्य भाषाओं में प्रायः सर्वत्र था। उनमें मुझे एक शब्द 'हलुस' मिला। यह ग्रीक भाषा का है, इसका अर्थ है लवण। यह मूल भारोपा भाषा का शब्द है। अर्थात् यह उस समय वर्तमान था जब आयरिश, ब्रिटेन, केल्ट, गौथिक, गॉल, आरमीनियन, रूसी, ईरानी, भारतीय आर्य आदि जातियां एक साथ एक देश में रहती थीं और उस समय यह शब्द बोला जा रहा था। इसका प्रमाण यह है कि यह तीन साढ़े तीन हज़ार वर्ष पुरानी आर्य भाषाओं में वर्तमान है। लैटिन में इसका रूप 'साल' है। 'सालिस' भी मिलता है। गौथिक में नमक को 'साल्ट' कहते थे, पुरानी स्कैंडिनेवियन भाषाओं में भी इसका यही रूप था। आरमीनियन में इसका रूप बिगड़ कर 'अड' हो गया है। अँग्रेजी में 'सॉल्ट', जर्मनी में 'जाल्त्स' (Salz), फ्रेंच में 'सॅल', पुर्तगाली में 'साल' आदि इसके रूप पाये जाते हैं। आर्य भाषाओं में नमक के ये समान रूप देखकर कुर्टिउस ने विचार किया कि क्या लवण का यह रूप भारतीय आर्य-भाषा में न रहा होगा? उसके समय में किसी संस्कृत ग्रन्थ में, और स्वयं वेदों में, यह शब्द नहीं पाया गया था। इसलिए उसने लिखा कि वैदिक, संस्कृत, पाली आदि भाषाओं में इसका समान रूप नहीं पाया जाता। किन्तु

इसलिये वैदिक साम्राज्य 'एम्पायर' नही था; वह तो एक प्रकार का गणतंत्र शासन था जिसमें शासन की बागडोर पकड़ने वाले निर्वाचित सदस्य सम्-राट् कहलाते थे। तुलनात्मक भाषा शास्त्र की दृष्टि से वैदिक और सस्कृत का अध्ययन करने से इस प्रकार के कई आश्चर्यजनक किंतु विशुद्ध और अज्ञात तथ्य प्राप्त होंगे। आवश्यकता है कि हम अब अपनी परख और जांच पड़ताल निष्पक्ष होकर करें।

ऋग्वेद पढ़ने से पता चलता है कि उस समय के आर्यों में सह-अस्तित्व या सह-कारिता का सिद्धान्त जातीय जीवन के मूल मे था। वैदिक ग्रामीण या ग्राम के प्रधान भी अपने ग्राम की उन्नति इसी एक सिद्धांत के आधार पर करते थे। इस प्रकार के सह-अस्तित्व के लिये दो बातें प्रत्येक नागरिक के लिये अति आवश्यक हैं। पहला गुण है, प्रत्येक नागरिक के मन मे यह भाव जागरित हो कि समाज की उन्नति होने से ही प्रत्येक व्यक्ति उन्नत और सुखी होगा, समाज के भीतर व्यक्तियों के संघर्ष से नही। समाज का नैतिक स्तर उतरेगा, तो नागरिक जो समाज का अग है अवश्य डूबेगा। सच तो यह है कि—अगर नाव डूबी तो डूबोगे सारे, यह तथ्य हृदय मे जम जाना चाहिए।

दूसरी बात है—समाज के अंग-अग मे सचाई और सहानुभूति का विस्तार। यह गुण प्रत्येक नागरिक में होना चाहिए। केवल सच्चाई और सहानुभूति—इस एक गुण से मनुष्य मानव बन जाता है और सारे समाज के लिए कल्याण-कर रूप धारण कर लेता है। यह गुण होने पर व्यक्ति अपनी नही समष्टि की समृद्धि में अपनी उन्नति देखता है। पहले अपने पड़ोसी की समृद्धि चाहता है, फिर अपनी। फल होता है कि समाज और समाज के व्यक्ति साथ-साथ आनंद करते है तथा दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति करते हैं। यह है सह-अस्तित्व का रूप जो कभी हमारे भारत की समृद्धि की आधार शिला थी—

> सगच्छध्वं संवदध्व स वो मनांसि जानताम्।
> देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते॥

संस्कृत के महापंडित, ये जर्मन !

(कुर्टिउस और वाकर नागल)

घटना प्रायः सौ साल पहले की है। उस समय जर्मन (और सभी प्राच्य विद्या-विशारद) वैदिक तथा संस्कृत भाषा के क्षीरसागर का सोलह आना मंथन करके वे अनमोल रत्न निकाल चुके थे कि इनके परिणामस्वरूप उनके सामने भारोपा भाषाओं का एक और विशालतर सागर आ गया जिसे मथकर और भी उत्तम रत्न निकालने की उन्हें सूझी। एक महापंडित कुर्टिउस भी भारोपा भाषाओं का मंथन कर रहा था। उसने अपने बुढ़ापे में अपनी खोज पर चार चाँद लगाये और एक ग्रन्थ लिखा जिसका नाम था Grundriss Der Griechischen Philologie अर्थात् ग्रीक भाषा-शास्त्र की आधारभूमि। इस ग्रन्थ में उसने सात आठ सौ ग्रीक भाषा के ऐसे शब्द एकत्र किये जिनका प्रचार आर्य भाषाओं में प्रायः सर्वत्र था। उनमें मुझे एक शब्द 'हलुस' मिला। यह ग्रीक भाषा का है, इसका अर्थ है लवण। यह मूल भारोपा भाषा का शब्द है। अर्थात् यह उस समय वर्तमान था जब आयरिश, ब्रिटेन, केल्ट, गौथिक, गॉल, आरमीनियन, रूमी, ईरानी, भारतीय आर्य आदि जातियां एक साथ एक देश में रहती थी और उस समय यह शब्द बोला जा रहा था। इसका प्रमाण यह है कि यह तीन साढ़े तीन हजार वर्ष पुरानी आर्य भाषाओं में वर्तमान है। लैटिन में इसका रूप 'साल' है। 'सालिस' भी मिलता है। गौथिक में नमक को 'साल्ट' कहते थे, पुरानी स्कैंडिनेवियन भाषाओं में भी इसका यही रूप था। आरमीनियन में इसका रूप बिगड़ कर 'अड' हो गया है। अंग्रेजी में 'सॉल्ट', जर्मनी में 'जाल्त्स' (Salz), फ्रेंच में 'सेल', पुर्तगाली में 'साल' आदि इसके रूप पाये जाते हैं। आर्य भाषाओं में नमक के ये समान रूप देखकर कुर्टिउस ने विचार किया कि क्या लवण का यह रूप भारतीय आर्य-भाषा में न रहा होगा ? उसके समय में किसी संस्कृत ग्रन्थ में, और स्वयं वेदों में, यह शब्द नहीं पाया गया था। इसलिए उसने लिखा कि वैदिक, संस्कृत, पाली आदि भाषाओं में इसका समान रूप नहीं पाया जाता। किन्तु

यदि कभी भारतीय आर्यों में इसका व्यवहार होता होगा तो वह शब्द 'सरस्' रूप में रहा होगा। यह उसने भाषा-ध्वनि तथा व्युत्पत्ति-शास्त्र के प्रमाणित सिद्धांतों पर स्थिर किया। उसकी यह बात उसके ग्रन्थ में ही पड़ी रही। प्रायः पाँच वर्ष की बात है कि मैं अपने कोश के लिए सभी प्राप्य और चार-पाँच अप्राप्य संस्कृत कोषों का अध्ययन कर रहा था। एक दिन अचानक देखता क्या हूं कि अभिधान चिन्तामणि नामक हेमचंद्र सूरि के कोष में दिया गया है—'लवणं सरः' याने नमक को 'सर.' भी कहते है। अब इन आर्य शब्दों की आर्यता देखिए कि संस्कृत में सर का एक अर्थ तालाब भी है। ग्रीक हालुस शब्द का अर्थ भी छोटा समुद्र, बड़ा तालाब है। हमारी सरस्वती देवी सरस् से बनी हैं अर्थात् बुद्धिमती, ज्ञानवती हैं। इस प्रकार सरस् का एक अर्थ बुद्धि या ज्ञान है। ग्रीक 'हालेन' का अर्थ नमकीन पानी है किन्तु बहुवचन के रूप हालेस् का अर्थ है 'बुद्धि', 'ज्ञान'। लैटिन रूप साल के भी ये अर्थ हैं। इस हिसाब से संस्कृत 'सरस' की व्युत्पत्ति सर-स् ठीक है या स-रस् यह स्थिर करना होगा। भाषा-शास्त्र की आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति ने हिन्दी के सैंकड़ो शब्दो की व्युत्पत्ति बदल दी है। उनका मूल रूप हमारे सामने *निखर आया है। यह है यूरोपियन पंडितों की सरस्वती, और सौ-सैंकड़ा* ज्ञानपूर्ण शोध का परिणाम। परमपंडित गेओर्ग कुर्टिउस की वाहवाही के दौंगड़े बरसाइये कि सौ साल पहिले भाषा-शास्त्र के बल पर संस्कृत को सुसंस्कृत कर गया।

यह सत्य वह सौ साल पहिले कैसे ताड़ गया? उत्तर सरल है। उसको यह तथ्य मालूम हो गया था कि ग्रीक 'ह्' अन्य यूरोपीय आर्य भाषाओं तथा भारतीय प्राचीन आर्य भाषा में 'स' रूप मे पाया जाता है, और यूरोपीय आर्य भाषाओं का 'ल' भारत जाकर 'र' बन गया। यह भी वह अपने ज्ञान या विस्तृत अध्ययन के बल पर जान गया था कि ग्रीक 'ए' प्राचीन भारतीय *आर्य भाषा में 'अ' हो जाता है।* फिर क्या था? उस ऋषि ने देख लिया कि 'हलुस' का भारतीय रूप 'सरस्' ही हो सकता है।

अब एक दूसरे महापंडित की कथा सुनिये। किसी भाषा का पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका एक ऐसा कोश होना चाहिए जिसमें शब्द की व्युत्पत्ति और उसका क्रमशः विकास सोदाहरण दिया गया हो। बोएटलिंक और रोट नामक जर्मन विद्वानों ने १८५२-७५ तक ऐसा संस्कृत-जर्मन

बृहत्-कोश प्रकाशित किया। उसी समय ग्रासमान ने वैदिक कोश रा-व्युत्पत्ति निकाला। संस्कृत व्याकरण पर बोप, बेनफे आदि लिख चुके थे। किन्तु इन व्याकरणों में पूर्णता नहीं आयी थी। इसलिए एक विद्वान् ने अपना अध्ययन और जीवन वैदिक और संस्कृत भाषा के व्याकरण को अर्पण कर दिया। यह पंडित वाकरनागल है। इसने छ: खन्डों में, और प्रायः छः हजार पृष्ठों में अपना संस्कृत-व्याकरण प्रकाशित किया है। इसने ह्विटनी, बेनफे, मोनियर विलियम्स आदि वैयाकरणों को बहुत पीछे छोड़ दिया है। यही नहीं, मेरी सम्मति में तो उसने स्वयं पाणिनि को पीछे छोड़ दिया है। उदाहरणार्थ, पाणिनि ने हमारी संख्याओं का रूप निरूपण नहीं किया है। वाकरनागल ने एक-एक संख्या-शब्द की वह चीरफाड की है कि उनका जीता-जागता रूप हमारी आंखों के सामने अद्भुत रूप से खड़ा हो जाता है। जहाँ प्रत्ययों का उल्लेख है, वहाँ वे नये नये प्रत्यय दिये है कि उनके प्रकाश से संस्कृत भाषा का नया रूप दिखायी देता है। कभी संस्कृत भाषा बोली जाती थी, अर्थात् वह जीवित थी। उस समय एक ही शब्द के कई रूप हो गये। ऋग्वेद में संधि के अर्थ जोड़, संध्या-काल, अंतर आदि है। किन्तु उक्त वेद में इसका अर्थ 'मेल, मिलाप, राजीनामा' नहीं है। *अथर्ववेद* इस अर्थ में सं-धा आया है। बाद को संधि का मुख्य अर्थ यही रहा। आज भी हिन्दी में संधि इसी अर्थ में चलता है, पर स-धा शब्द चलता नहीं। इसी भांति बोली जाने के कारण, धन या संपत्ति के लिए रै बना। धनी के लिए रैवत् नहीं रेवत् का प्रयोग किया गया। इससे पता चला कि कहाँ रे और रै काम में आता था। रैवत *का अर्थ* 'धनी कुल की संतान' है। रेवती का एक अर्थ 'धनवाली' है। रै का बोली में रयि भी हो गया। रायस्काम में राय इसी अर्थ में है। सार यह कि वाकरनागल ने अपने बृहत् व्याकरण में इस एक शब्द के सभी रूपों पर विचार किया है और उन पर प्रकाश डाला है। कभी 'गम्' का अर्थ 'आना' भी था। अँग्रेजी 'कम' (come) इसका प्रमाण है, पर वाकरनागल ने यजुर्वेद और अथर्ववेद से दो स्थल उद्धृत किये है जिनमें नव-गत शब्द का अर्थ 'नया आया हुआ' है। वैदिक शब्द हमारी बोलियों में परम्परा से आये हैं। अवधी में यह नव-गत शब्द आज भी इसी अर्थ में बोला जाता है। अस्तु, वाकरनागल ने अपने व्याकरण में दस हजार से ऊपर संस्कृत और वैदिक शब्दों पर प्रकाश डाला है। वैदिक और संस्कृत की कोई विचित्रता उसने बिना प्रकाश डाले न छोड़ी। इस प्रकार इस जर्मन महापंडित ने स्वयं पाणिनि को मात दी है।

किन्तु इसकी एक बात ऐसी है कि इसने भविष्य को भी अपने ज्ञान के नयनो से देख लिया। वाकरनागल ने अपना व्याकरण (खड १) १८९६ ई० मे प्रकाशित करवाया। खित्ताइत या खत्ति भाषा बोगाजकोइ (टर्की) मे ईंटो पर खुदी हुई मिली, प्राय: चालीस वर्ष हुए ह्रोज्नी द्वारा पहले पहल पढी गयी, बहुत बाद को मिली। जब खत्ति भाषा पढी गयी तो पता चला कि इस प्राय: चार हजार वर्ष पुरानी आर्य-भाषा के बहुत से संज्ञा शब्द ऐसे हैं जिनके अन्त मे 'र्' और 'न्' दोनो जोड़े जाते हैं। उदाहरणार्थ, खत्ति भाषा मे रक्त के लिये 'एशर' शब्द है, और इसका दूसरा रूप 'एश्न' है। षष्ठी मे एश्नम् होता है। इस सबसे पुरानी आर्य भाषा मे ऐसा बहुत चलता था। ऋग्वेद मे भी रक्त के लिए 'असृज्' शब्द है। यह कभी 'असृ' (असर्) रहा होगा। इसका दूसरा रूप 'असन्' है। ऋग्वेद मे 'असृज्' का पंचमी और षष्ठी एक वचन 'अस्नस्', षष्ठी बहुवचन 'अस्नाम्' होता है। इससे 'असन्' रूप की पुष्टि होती है। *यह तथ्य पाणिनि या संस्कृत* के किसी अन्य व्याकरणकार को नही सूझा। वाकरनागल ने ही पहले पहल इस तथ्य का पता लगाया, और वह भी खत्ति भाषा का आविष्कार होने से बहुत पहिले। यह नियम प्राय. सभी पुरानी आर्य भाषाओ मे मिलता है। वेद में 'ऊधस्', 'ऊधर्' और 'ऊधन्' रूप गोस्तन (udder) के लिये मिलते है। विद्वान् और विदुर का एक ही अर्थ है। विदुर का एक रूप विदुल भी पाया जाता है। दूसरा रूप विदुप् भी है। इन सबका अर्थ 'विद्वान् है। धनुप का सस्कृत मे धन्वन् और धनुर् रुप भी मिलते है। अब और देखिये वै० अश्मन् का अर्थ 'पत्थर और आसमान' है। इसका दूसरा रूप भी कभी 'अश्मर्' रहा होगा, यद्यपि सस्कृत मे यह रूप मिलता नही है। इस शब्द के प्राचीन अस्तित्व का प्रमाण अश्मरी 'पथरी रोग' का सुश्रुत आदि वैद्यक के ग्रन्थो मे पाया जाना है। 'अश्मरी' अश्मर्' शब्द से ही निकल सकता है। ऐसे अन्य बीसियो शब्द दिये जा सकते हैं जो 'र्' और 'न्' मे समाप्त होते हैं। इतना ही नही, कुछ संस्कृत शब्द जो कभी 'र्' मे समाप्त होते थे, उनमे एक और प्रत्यय 'इत्' जोड़ दिया गया और 'र्' का रूप ऋ हो गया। ऐसा एक शब्द 'यकन' है जो पाली मे 'यकृत्' का रूप है। शब्दो का षष्ठी का रूप बहुधा मूल रूप होता है। संस्कृत या वैदिक मे षष्ठी मे 'यक्नस्' पाया जाता है। इस 'यक्न' का पाली मे मूल रूप 'यकन' हो गया। यह शब्द कभी 'यकर्' रहा होगा। इसके रूप लैटिन और ग्रीक मे मिलते हैं। लैटिन मे

इसका रूप जेकुर (येकुर्) और ग्रीक मे 'हेपार्' और अवेस्ता मे 'याकर्त' है। इन सब मे 'र्' है। सो निश्चय ही 'यकृत्' का एक रूप कभी 'यकर्' रहा होगा। ऐसा दूसरा शब्द 'शकृत्' है। इसका एक रूप 'शकर्' रहा होगा, और दूसरा 'यकन' की भांति 'शकन' या 'शकन्'। अब वाकरनागल के इस नये आविष्कार का माहात्म्य देखिए कि 'शकन' न मालूम कब का मर चुका है। वैदिक या संस्कृत मे यह शब्द मिलता ही नही। किन्तु वाह री देशी प्राकृत ! इस जनता की बोली मे 'छगण' शब्द रह गया है। इसका अर्थ है 'गोमय, गोबर'। इससे देशी प्राकृत मे 'छगणिया' शब्द निकला है। जिसका अर्थ है, 'गोइंठा, कंडा'। इससे स्पष्ट प्रमाणित हुआ कि अवश्य कभी कहीं 'शकृत्' का एक रूप 'शक्न्' भी रहा होगा। इस छगण शब्द के प्राकृत ग्रन्थों मे मिलने से यह निदान प्रमाणित हो गया कि इसका पूर्वज 'शकन' रहा होगा। 'छगण' हिन्दी मे भी आ गया है और इसका अर्थ हिन्दी-शब्द-सागर मे 'गोबर, कडा' दिया गया है। वाकरनागल को लाख बार धन्य-धन्य कहिये कि 'शकन' कब का मर गया, कब का दफना दिया गया और सारे साहित्य मे लापता है, किन्तु वाकरनागल ने अपनी तीक्ष्ण ज्ञानचक्षु और प्रतिभा से उसे कबर से निकाल लिया तथा जीवित कर दिया। आज यह शब्द जीता जागता खडा है और पुकार पुकार कर बता रहा है : 'हिन्दी का 'छगण' मेरा वशज है। मैं कभी बोला जाता था। किन्तु क्यो और कैसे मरा, यह स्वय मै नही जानता।'' बताइये इस प्रकाड ज्ञानी को, जो भारतीय प्राचीन आर्य भाषा के भूत, वर्तमान और भविष्य के पर्दे खोल गया है, क्या कहा जाय ? इसके सामने हमारे परम पडित पानी भरेंगे। सस्कृत और वैदिक भाषाओ का ऐसा महापडित अभी तक दूसरा न जन्मा।

अब एक और आश्चर्य देखिये। जमीन शब्द फारसी से हिन्दी मे आ गया है। स्वयं ऋग्वेद मे पृथ्वी के लिये 'ज्मा' शब्द आया है। इससे एक रूप निकला है जामर्य 'जमीन संबंधी'। इसका रूप अवेस्ता की भाषा मे 'जेमइनि' है जो बाद को 'जमीन' हो गया। इससे यह मालूम हुआ कि यह नियम सभी भारोपा भाषाओ के लिये लागू है। इसी प्रकार हिन्दी का 'नाडा' शब्द (जिसका अर्थ इजारबंद है) संस्कृत 'स्नावत्' 'स्नायु' अवेस्ता मे 'स्नावरे' रूप मे हैं। इस हिसाब से 'नाड़ा' की व्युत्पत्ति 'स्नावन्' के दूसरा आर्य रूप 'स्नावरे' से है। वाकरनागल ने अपनी प्रखर ज्ञानचक्षु से खत्ति (Hittite) भाषा के आविष्कार के पहले ही यह 'र्' और 'न्' के परस्पर परिवर्तन का

नियम स्वयं प्राचीन भारतीय भाषाओं में देख लिया, और उसका स्वरूप हमारे सामने रख दिया। इस आविष्कार का लाभ हिन्दी के लिए भी महान् है। सब आर्य भारतवासियों का परम कर्तव्य है कि इस जर्मन ऋषि को कोटिश: प्रणाम करें। इसके ऋण से वैदिक और संस्कृत भाषायें मुक्त नहीं हो सकती। जब तक उक्त भाषाओं का पठन-पाठन रहेगा तब तक वाकरनागल का ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय भाषाओं का व्याकरण' अमर रहेगा। मैं तो भारतेंदु की शैली पर यही कहूंगा :—

इन संस्कृतज्ञ जर्मनन पै कोटिन हिन्दू वारिये।

और विद्वान् अपने विषय के भले ही अधूरे हों पर जर्मन पंडित अपने विषय के सौ-सैकड़ा पूरे होते हैं, यह हमें कभी भूलना न चाहिए। यही नम्र निवेदन है। वराहमिहिर ने ठीक ही लिखा है :—

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत् तेपि पूज्यते ·· ··· ··· ··· ··॥

उर्दू-संस्कृतज

बात १९२६ की है। मैं बर्लिन के एक बोर्डिंग हाउस मे रहता था। सारे घर मे कुल दस-बारह आदमी रहते थे। कलेवा करने भोजनालय में जाते थे। कुल दो मेज और दस कुर्सियां भोजन करनेवालों के लिये पड़ी थी। बहुधा कलेवा मकान मालकिन के साथ ही करने का अवसर मिलता था। एक दिन देखा कि उसका भाई आया हुआ है। यह भाई चित्रकार है और इसका अच्छा नाम है। चित्रकारी तथा रंगों की चर्चा छिड़ पडी। उसने कहा कि चित्रकारी में रग-भेद जानना मुख्य काम है। रग पहचानने लगे तो आप रंजक हो गये। उसने हम लोगो से कोने के अँधेरे का रग बताने को कहा। हम लोगों ने काला, नीला, भूरा, आदि सब रंगो के नाम लिए पर उसने बताया कि यह काला कोना गहरे लाल रंग से चित्रित किया जाएगा। चित्रकार ने कुछ चित्र दिखाकर अपनी बात को साबित किया। इससे मुझे पता लगा कि ज्ञान और अज्ञान मे बहुत बडा भेद है। इसके बाद पेरिस गया। विश्वविद्यालय मे भर्ती हुआ। आर्य भाषाओ से सम्बन्ध रखने वाले भिन्न-भिन्न शास्त्र पढ़ने लगा। पता चला कि यूरोप और एशिया की नाना आर्य-भाषाओ मे बहुत साम्य है जो व्याकरण के रूपो मे भी मिलता है। पता लगा कि अग्रेजी 'इज', फ्रेंच 'एस्त' जर्मन 'इस्ट' 'अस्ति' के भिन्न-भिन्न रूप है। अंगरेजी में 'अस्मि' का रूप 'एम' है। इस 'अस्ति' का प्राचीन फारसी मे 'अह्मि', ग्रीक मे 'एस्मि', लैटिन में 'सुम' रूप हैं। 'अस्ति' के रूप उक्त भाषाओ मे क्रमशः 'अस्ति' 'एस्ति' और 'एस्त' हैं। 'ददामि' का अवेस्ता मे 'दधामि', ग्रीक मे 'दिदोमि' और लैटिन मे 'दो' है। स्पष्ट है कि इन सबका धातु एक है। 'अहं' का अवेस्ता मे 'अज' ग्रीक मे 'ऐगो' लैटिन मे 'एगो' जर्मन मे 'इष्' और अगरेजी मे 'आइ' है। 'युष्मय्यं' का अवेस्ता मे 'यूस्मइव्य' (वो), ग्रीक मे 'हूमिन', लैटिन मे 'वोमिस्' अंगरेजी मे 'यू' और फ्रेंच मे 'वू' (वूस) हो गया है आदि। इस प्रकार भाषाशास्त्र के नाना अगो का अध्ययन कर यह ज्ञान हुआ कि भारत मे नाना आर्य भाषाओं का अध्ययन अध्यापन एकांगी है। पीटर्सबुर्गर प्रसिद्ध संस्कृत-जर्मन कोश के एक महापंडित सम्पादक ने सच कहा

था कि यूरोप में वेद की भाषा समझने में सायण के भाष्य ने विद्वानो की बड़ी सहायता की पर उसे स्वयं वैदिक और संस्कृत भाषाओं का ज्ञान संकीर्ण रहा। क्योंकि आज हमें सब आर्य भाषाओं का ज्ञान है, इसलिए हम तुलनामूलक भाषाशास्त्र से वैदिक और संस्कृत भाषाओ के शब्दो का ठीक-ठीक अर्थ लगा सक रहे हैं। यह पढ़कर मुझे उस चित्रकार तथा काले स्थान पर गहरा लाल रंग पोतने की उसकी सलाह याद आई। अहा ! अज्ञान ऐसा अंधकार है कि हम रस्सी को साँप समझने लगते है। प्रकाश तो ज्ञान है और ज्ञान ऐसी ज्योति है कि वह एक्स-रे की भाँति अंधकार के आवरण को छेद कर सर्वत्र गुप्त को प्रकट कर देता है।

कुछ दिन पूर्व नेहरूजी ने अपने एक भाषण मे उर्दू को संस्कृतजन्य बताया था। लेकिन इन पर आश्चर्य प्रकट कर नेहरूजी के कथन को निराधार कल्पना बताना ठीक नहीं। इस विषय पर जिसको नाममात्र भी दिलचस्पी होगी वह इतना तो जरूर जानेगा कि मुसलमानों ने उर्दू के जितने भी इतिहास लिखे हैं, सबमें उन्होंने बताया है कि उर्दू भारत में पैदा हुई और वह भी ब्रज भाषा से जो स्वयं प्राकृत, पाली, संस्कृत और वैदिक भाषाओं की बेटी है। उर्दू के प्रसिद्ध लेखक स्व० मुहम्मद हुसैन 'आजाद' को लीजिए। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक आबे हयात मे अस्सी साल पहले लिखा था.—

'इतनी बात हरशख्स जानता है कि हमारी उर्दू जबान ब्रज भाषा से निकली है और ब्रज भाषा खास हिंदोस्तानी जबान है। लेकिन वह ऐसी जबान नहीं कि दुनिया के परदे पर हिंदोस्तान के साथ आई हो। इसकी उम्र आठ सौ बरस से ज्यादा नहीं है। और ब्रज का सब्जा-जार इसका वतन है। तुम ख्याल करोगे कि शायद इस मौरूसी कदीमी की सनद संसकिरत के पास होगी और यह ऐसा बीज होगा कि यहीं फूटा होगा, और यहीं फूला-फला होगा, लेकिन नहीं। अभी सुराग आगे चलता है। सब जानते हैं कि हिंदोस्तान अगरचे बेहिम्मती और आराम-तलबी के सबब से बदनाम रहा मगर बावजूद इसके मुहज्जब कौमों में हमेशा से खूबा रहा है। चुनांचे इसकी सर-सब्जी और जरखेजी और एतदाल-हवा ने बलाये-जान होकर हमेशा इसे गैर-कौमों की घुड़दौड़ का मैदान बनाये रखा है। पस, बालाए किरम-कि हर बात का एक पता पताल तक निकालने वाले हैं—उन्होंने जबानों और कदीमी निशानों से साबित किया है कि यहां के असली बाशिंदे और लोग थे। एक

जबरदस्त कौम ने आकर आहिस्ता आहिस्ता कुल मुल्क पर कब्जा कर लिया यह फतहयाब गालिबन जेहून सैहून (?) के मैदानों से उठकर और हमारे शुमाली पहाड उलट कर इस मुल्क में आये होंगे। उस जमाने के गीत और पुरानी निशानियाँ देख कर यह भी मालूम किया है कि वह लोग दिल के बहादुर, हिम्मत के पूरे, सूरत के सजीह, रंग के गोरे होंगे और उस जमाने की हैसियत बमूजब तालीम-याफ्ता भी होंगे। मौके का मुकाम और सर-सब्ज जमीन देखकर यहीं जमों गीर हुये। इस कौम का नाम एरियन था। और अजब नहीं कि इनकी जबान वह हो जो अपनी असल से कुछ कुछ बदल कर अब संस्कृत कहलाती है। यही लोग हैं जिन्होंने हिंदोस्तान में आकर राजा महाराजा का खिताब लिया। ईरान में ताजकयानी पर दरपश कावयानी लहराया आदि आदि।

आजाद साहब ने यहाँ अपनी खोज का जिक्र नही किया है, उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मैं जो कुछ लिख रहा हूं उसे दानाये-फिरंग-जो हर बात का पता पताल तक निकालने वाले है उन्होंने जबानो और कदीमी निशानो से साबित किया है। यह है उर्दू भाषा की उत्पत्ति का स्वय उर्दूवालों द्वारा माना हुआ सिद्धात। अगर पं० जवाहर लाल ने उर्दू के सम्बन्ध मे वही सिद्धात दुहराया तो क्या पाप किया? उन्होंने वह सचाई हमे बताई जिसे अभी तक किसी हिंदी भाषा और साहित्य के इतिहास लिखने वाले ने न लिखा तथा जो अवश्य लिखा जाना चाहिये। अब इसका दूसरा पहलू देखिये

हाल मे हमारे मित्र बुलगानिन और ख्रुश्चेव भारत आये थे। उन्हे श्री दुर्गादत्त अग्रवाल ने कलकत्ते मे एक 'समर्पण' दिया था। इसके विषय में पत्रों में छपा 'जिसमें आधुनिक रूसी भाषा और प्राचीन संस्कृत भाषा के वाक्यों के अद्भुत साम्य के उदाहरण दिये गये हैं'। लेखक को मालूम होना चाहिये कि रूसी भाषा आदि-आर्य भाषा की बेटी है और संस्कृत भी उसी की पुत्री है। सो, दो-चार सौ उन शब्दों का साम्य स्वाभाविक है जो संसार की साठ-सत्तर आर्य भाषाओं मे आदि आर्य भाषा की निधि से आये हैं। उदाहरणार्थ इस समर्पण के प्रथम वाक्य 'तोत,' 'वाश,' 'दोम्,' 'एतत्,' 'नाश,' 'दोन', ने 'तोन' अंगरेजी में 'दैट', रूप मे मिलता है क्योंकि अंगरेजी भी आर्य भाषा है। 'वाश' का लैटिन रूप 'वोस' और फ्रैंच 'वू' से निकला 'वो' है। अगरेजी के 'यू' 'युअर' इसी के रूप हैं। यूरोप की आर्य भाषाओं में ये रूप संस्कृत से

मिलते हैं। आज का रूमी 'नाश' पहले 'नमु' था। यह षष्ठी का रूप है। अब 'सैं' देखिये। 'सैं' का अर्थ पहले क्या था? ग्रीक 'स' क्या और अवेस्ता में 'ची' क्या है? हमारी संस्कृत मे 'किंचिद,' 'क्वचित्' आदि मे यह रूप वर्तमान है। अब रूमी में 'सैं' का अर्थ 'वह' हो गया है, जो नया होने के कारण सस्कृत का समानार्थक नही माना जा सकता। 'धाम' रूमी 'दाम' नही है। प्राचीन स्लाविश मे यह 'दोमु' था अब 'दौम' है जो लैटिन दौम' का सगा-सम्बन्धी है। 'धाम' से कुछ दूर। इमी प्रकार अन्य रूमी शब्दो की स्थिति है। इसके अतिरिक्त हिंदी-रूसी कोष देखकर पता चलता है कि हजार दो *हजार शब्दो मे एक शब्द सस्कृत या हिंदी के निकट मिलता है। इस समता* पर हमारे पत्रो मे लेख छपे–'क्या रूमी सस्कृत बोलते है?' अब यदि प० जवाहरलाल ने कहा कि उर्दू संस्कृत की बेटी है तो इसमे भूल कहा आ गई? रूसी भाषा मे हजार मे तीन-चार शब्दो मे 'संस्कृत' मे साम्य मिलता है, इस लिये वह, भाषा शास्त्रियों द्वारा वैदिक और सस्कृत के बहुत नजदीक समझी जाती है। सारी भाषा मे सस्कृत से मिलनेवाले अधिक से अधिक चार पाच सौ शब्द हैं, उस पर हमे यह भ्रम होने लगा है कि रूम वाले सस्कृत बोलते हैं। पर उर्दू मे हजारो शब्द आदि आर्य भाषा के ऐसे है कि जो सस्कृत के सबसे नजदीक है और परस्पर बहुत सम्बन्धित हैं, तब भी, हमारे विचार से, ये विदेशी है। क्या वे रूसी से भी दूर हैं? बोप तथा फ्रैंच पडित ब्युर्नूफ ने सिद्ध किया है कि संस्कृत के सबसे नजदीक फारसी है और तब रूसी। रूसी भाषा पर सबसे अधिक प्रभाव पुरानी फारसी का है। उदाहरणार्थ रूसी मे ईश्वर को 'बौग' कहते हैं। पुरानी फारसी मे इसे 'बग' कहते थे जो वैदिक 'भग' का फारसी रूप है। पाठक ईराक की राजधानी बगदाद का नाम जानते होंगे, यह 'बगदाद' फारसी मे 'बगधात्' कहा जाता था अर्थात् ईश्वर द्वारा 'सृष्टि'। रूसी भाषा मे 'बौग' प्राचीन फारसी से गया। यह मत सभी-भाषा-शास्त्रियों का है। पारसियो के धर्म-ग्रन्थ अवेस्ता की भाषा प्राय संस्कृत है। उसमे और वैदिक भाषा मे उतना ही भेद है जितना उच्चारण के कारण हिंदी और बगला में। एक उदाहरण लीजिये। अवेस्ता के उन्नीसवें सूक्त (यस्न) की पहली ऋचा यो है:—

क्षमइब्या गेउंश् उर्वा गेरेज़द, कहमाइ मा श्वरोशृतूम्।
सस के मा तशात् आ मा अएश्मो हज़स्चायें रेमो आहुशुचा वेरेश्चा तेविश्चा,
नोइत् मोइ वास्ता
क्षमत् अन्यो अथा मोइ सांस्ता वोहू वास्त्रया।

इसका अन्वय इस प्रकार है—गो: उर्वा युष्मभ्यत् अगुजद्, कस्मै मा अगुजध्वम ? क. माम् (मा) अतसत् इष्म: सहस् आजुषु : घप च तवस् च, आ माम् रमन्ते । क्षमद् अन्य. नोइत मे वास्ता (अस्ति) । अर्थ मे बहु, वास्त्रयम् शमत । इसमे गेरेशदा का धातु पाणिनि के धातुपाठ मे 'गज' शब्दार्थ है । यहा यही अर्थ है । 'तस' (तश) उपच्छय है । 'अऐशमो' वेद का 'इष्म' है जो इष-म है । अर्थ है सुख की इच्छा जो सफल हो । 'हजस' का ध्वति-नियमों के अनुसार सहसु=ताकत होता है । फारसी में हमारे 'स' का 'ह' और 'ह' का 'ज' होता है । थोड़े अपवाद भी है । 'सिधु' का 'हिंदु' और 'सप्ताह' का 'हफ्ताह' हो जाता है । 'क्षम=युष्म=शुमा' । 'रेमो=रेमे', इसका वास्तविक फारमी अर्थ 'रमणाति वधकर्मा' है जो यास्क ने दिया है । (नि ११,१९) । 'वास्त्रयम' का अर्थ शरण, निवास है । यह 'वस आच्छादेन' और 'निवासे' से है । इसमें थोड़े फेर-फार के साथ वैदिक भाषा की झलक स्पष्ट है । और एक बात उर्दू को विदेशी भाषा मानने वालो के लिए कुछ अजीब-सी लगेगी क्योंकि आज हम अपने को अन्य देशो से बिलकुल अलग मानने लगे हैं। यास्क के समय तक सस्कृत और फारसी भाषा का साम्य व्याकरणकारो को मालूम था निरुक्त दो, २ मे लिखा मिलता है '—'अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यते विकृतय एकेष । शवतिर्गति-कर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते । विकारम-स्यार्येष भाषन्ते शव इति । इसका अर्थ हुआ कि कबोज मे 'शवति' जाने के अर्थ मे है और भारत के आर्य केवल 'शव' का व्यवहार करते हैं, इसकी धातु भूल-सा गये है । 'शव गतौ' धातुपाठ मे है, परंतु हम अभी तक यह नहीं जानते कि 'शव' के मूल मे यह धातु है । अब मजा देखिये कि 'शव् गतौ' पुरानी फारसी मे भी है और कंबोज फारस का एक प्रदेश था जहाँ के राजा गोमात को दारियस ने जीता और इस विषय का शिलालेख और चित्र बहिस्तून मे आज भी मौजूद है । इस एक वाक्य से पता लगता है कि ईरानी और सस्कृत मूल मे एक थी । इसके प्रमाण बीसियो हैं फारसी 'अस्प', 'नाभ' 'नर' 'मादा', 'कबूतर,' 'किरम,' 'हफ्त', 'हजरद्' 'अहमै', 'क्षमा (शुमा), 'ह्वरे' और 'ह्व' संस्कृत मे 'अश्व' 'नाभि', 'नर', 'माता' 'कपोत' 'कृमि,' 'सप्त', 'सहस्र', 'अस्मै,' युष्मा' 'स्व' (सूर्य) और 'स्व' हैं । खुदा हमारा स्वधा है । 'मेह' प्राकृत 'मेह', 'वेदा'=प्रा० 'विहवा, 'मै'=प्रा० मय, नमाज=सं० नमोवाच, पाक'=पाक, आदि आदि जर्मन् विद्वान पौल हौर्न ने 'ऐसे डेढ़ हजार' शब्दो की 'सव्युत्पत्तिक शब्दावली बनायी है । इस दशा में हमें थोड़ा उदार बनना चाहिये

और जगत्के भाषाशास्त्री विद्वानों के साथ मानना चाहिए कि हमारी संस्कृत के रूसी से भी निकट फारसी है। इंडो-ईरानियन वर्ग एक ही माना जाता है। तब जवाहर लाल जी की सत्य और प्रमाणित बात को स्वीकार करने के बजाय उन्हें अज्ञानी बताना लज्जा का विषय होगा। अरबी की बात दूसरी है। वह आर्य-भाषा नहीं है। किन्तु हिंदी-शब्दसागर में पांच-सात हजार शब्द अरबी भी दिये गये हैं जो हिंदी में आ गये है। एक अरबी शब्द केटुभ' स्वयं पाली में किताब के स्थान पर आया है। इस 'केटुभ' का प्रयोग कबीर ने 'कितेब' रूप में किया है। इस विषय पर कि फारसी और हिन्दी का मूल एक ही है, कहां तक लिखा जाय? श्लेगल, बोप से लेकर आधुनिकतम भाषाशास्त्री पामर, बरो, सुनीतिकुमार, काले तक सब का एक मत है और हजारों पुस्तकें सब यूरोपियन और कुछ भारतीय विद्वानों की, इसका प्रमाण देती हैं। सच तो यह है कि इस पर बहुत लिखा जा सकता है, बाढ़इ कथा पार नहिं लहई।

यह हम मानते हैं कि रूसी संस्कृत के नजदीक है। किन्तु भाषा शास्त्री यह साबित कर चुके हैं कि यद्यपि रूसी शतम् वर्ग की भाषा है जो चेकोस्लो-वाकिया से ईरान और भारत तक बोली जाती थी और इस समय भी बोली जाती है। यूरोप की अधिकांश भाषाएँ 'केंटुम' जाति की हैं। ग्रीक में 'शत' को 'एकातोन' और लैटिन में 'केटुम' कहते हैं। रूसी में 'सत' अवेस्ता में 'सतम्' और वैदिक 'शतम्' एक हैं। पर सिद्ध यह हुआ है कि फारसी संस्कृत के निकटतम है और रूसी निकटतर। यह तो ठीक है किन्तु अब उर्दू पर थोड़ी दृष्टि डालें, एक शेर लीजिये :–

> मिता में आशिकारा हमको किसकी शाकिया चोरी।
> खुदा को गर नहीं चोरी तो फिर बंदे की क्या चोरी॥

इसमें मै शब्द मद से निकला है। यह शब्द प्राकृत में भी मद से मअ या मय हो गया है जिसका अर्थ 'शराब' है। आशिकारा शब्द आविष्कार से बना है। खुदा शब्द सं० वै० स्वधा से बना है। स्वयं जो अपने को धारण करता है, उसे स्वधा कहते हैं। फारसी में स का ह या ख हो जाता है, जैसे—स्वाप का ख्वाब और शुभ का खूब। बंदा शब्द संस्कृत धातु बंद् का एक रूप है। इस शेर में उक्त फारसी शब्द मूल आर्य भाषा से आये हैं और संस्कृत से मिलते जुलते है। इनके अतिरिक्त नर, मादा, तिश्ना (=तृष्णा), काम (=सं० काम), कबूतर (=सं० कपोत) आदि शब्द स्पष्ट ही आर्य-मूल से निकले हैं।

ऐसे सैकड़ों शब्द फारसी मे आर्य-मूल से निकले हैं। उर्दू में मद्य से नरम, घर्म से घरम आदि शब्द भी संस्कृत के ही हैं। शाह शब्द अवेस्ता के क्षायथ से निकला है और यह क्षायथ, वैण्धातु क्षि् 'राज करना' से बना है आदि आदि सैकड़ो-हजारों शब्द हैं जो प्राचीन भारतीय आर्य भाषा से मिलते जुलते हैं या उससे निकले हैं। इस कारण ही भारत और ईरान की भाषाओं को यूरोप के भाषा शास्त्री विद्वान् भारोरानी कहते हैं और यह मानते है ये दो भाषायें आर्य परिवार मे अन्य सब भाषाओ से अधिक मिलती-जुलती हैं। इस कारण उर्दू के अधिकाश शब्द जो फारसी से आये हैं, संस्कृ-ज हैं। यह हमें मानना चाहिए।

भगवान की वाणी में अर्थ-परिवर्तन

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान की वाणी है। महाभारत के समय युद्ध क्षेत्र मे कृष्ण-अर्जुन के बीच जो वाद-विवाद हुआ था उसका नाम भगवद्गीता रखा गया। इस कारण गीता की भाषा विशुद्ध संस्कृत है। यदि हम शुद्ध वाणी बोलने का प्रयास करते तो गीता के बाद की संस्कृत तथा वर्तमान हिन्दी मे गीता के शब्दो का एक ही अर्थ बना रहता। भाषा-शास्त्र का नियम है कि शब्दों का अर्थ समय के प्रभाव मे और मनुष्य की जीभ, कान, कण्ठ आदि ध्वनियन्त्र दोषपूर्ण होने के कारण शब्दो मे बहुधा ध्वनि तथा शब्दो के अर्थ मे महान् परिवर्तन आ जाता है। दिल्लगी देखिये कि भगवान की वाणी का अर्थ भी बाद की संस्कृत और हिन्दी मे कुछ का कुछ हो गया है। कई स्थानों पर तो यह अर्थ हास्यास्पद बन गया है। उदाहरण के लिए गीता का एक पद लीजिए :—

तेषां नित्याभियुक्तानां योग-क्षेमं वहाम्यहम्।

नई संस्कृत या हिन्दी के अनुसार अभियुक्त उसे कहते हैं जिस पर अदालत मे किसी अपराध के लिए मामला चलाया गया हो। नित्य अभियुक्त वह है जो दिन मे तो किसी कसूर के कारण अदालत मे हाजिर किया जाता हो और रात्रि मे हवालात की हवा खाता हो। उक्त श्लोकार्द्ध मे भगवान ने जो नित्याभियुक्त का प्रयोग किया है, क्या वह आजकल के अर्थ मे प्रयुक्त हो सकता है? जब हम अभ्यर्थना, अभिवन्दना, अभिनन्दन, अभिराम, अभिमत, आदि शब्दो मे देखते हैं कि उक्त शब्दो में अभि— जोडने से इन शब्दो का अर्थ 'सुन्दर' बन जाता है तो—युक्त के आगे अभि-प्रत्यय लगाने से उसमे क्या बुराई हो गई? अब प्रश्न उठता है कि क्या कृष्ण ने उत्तम योगी को अभियुक्त कह कर अर्थ मे बुराई पैदा की या सुन्दरता? जब सर्वत्र अभि-से शब्दो में सुन्दरता पैदा होती है तो अभियुक्त के अर्थ मे असुन्दरता कैसे आ गई?

गीता मे नित्याभियुक्त का अर्थ है 'जिनका मन नित्य भगवान में ही लगा रहता है।' इसमे अभि- उपसर्ग का अर्थ ठीक ही है। शनैः शनैः हमारे अज्ञान के कारण आज अभियुक्त शब्द का अर्थ कुछ का कुछ हो गया है। गीता मे लिखा है :—

'सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि'

इसमें कृतान्त शब्द का उपयोग बहुत ही उचितरूप से किया गया है। कृतान्त शब्द कृत-अन्त है जिसका अर्थ है 'सिद्धान्त।' सिद्धान्त का अर्थ है 'जिसका अन्त या निदान सिद्ध कर लिया गया हो'। इसी प्रकार कृतान्त का अर्थ हुआ 'वह पदार्थ जिसका अन्त या निदान पक्का कर लिया गया हो'। अब यह अर्थ संस्कृत कोषों तक मे नही पाया जाता। इन कोषो मे है : कृतान्तो यमुना भ्राता अर्थात् कृतान्त यम का नाम है। पाठक देखें कि भगवान ने कृतान्त का जिस अर्थ में प्रयोग किया है वह आज नदारद है। केवल मोनियर विलियम्स ने अपने कोष मे सगत अर्थ दिया है। हिन्दी कोषो में तो कृतान्त का अर्थ दिया है : 'यम आदि'। इस स्थल मे कृतान्त का अर्थ है : 'वह साख्य दर्शन जिसके विषय मे विद्वानो ने सारे विश्व का विदित ज्ञान मथकर पक्का निदान या सिद्धान्त निकाल लिया हो'। यह अर्थ व्युत्पत्ति-सम्मत भी है। इस शुद्ध अर्थ को हमने भुला दिया है। अब कृतान्त उस यम के लिए आता है 'जो विश्व के सब जीवों को मारकर उनका अन्त कर देता है'।

एक और शब्द जो हमने गीता मे प्रयुक्त किए हुए अर्थ में एकदम भुला दिया है वह है विषम। इस विषम की व्युत्पत्ति वि-षम है जिसका अर्थ है 'वह पदार्थ या स्थिति जिसने मनुष्य की स्थिरता या समता का सन्तुलन बिगाड़ दिया हो'। गीता में निम्न पद आया है जिसमें उक्त शब्द प्रयुक्त हुआ है :—

कुतस्त्वां कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।

इसका अर्थ है : 'हे अर्जुन ! तू इस समय महान् सकट मे पड़ा हुआ है, तेरे पास ऐसे गन्दे विचार कैसे आए ?' यहाँ पर विषम का अर्थ 'घोर संकट' है। ऐसा मालूम पडता है कि इस शब्द के अर्थ की परम्परा महाभारत काल के बाद अधिक समय तक न चल सकी। प्राकृत और अपभ्रंश मे इसकी परम्परा बहुत ही क्षीण दिखाई देती है। पुरानी हिन्दी मे मुझे यह शब्द अभी

तक गीता में प्रयुक्त हुए अर्थ मे नही मिला। प्राकृत और हिन्दी मे यह विशेषण ही माना जाता है। पाठक देख रहे हैं कि गीता में यह शब्द नाम या संज्ञा है। इस सबका अर्थ यही है कि भारतीय आर्यों ने प्राचीन संस्कृत की परम्परा ठीक न रख सकने के कारण गीता के शब्दों का प्रयोग छोड़ दिया और उसका अर्थ बदल दिया। यह कार्य भले ही भगवान् की वाणी के सम्मत न हो; किन्तु भाषा-शास्त्र सम्मत अवश्य है। भाषा शास्त्र ने बताया है कि शब्दो के अर्थ मूल मे जो कुछ भी हो, समाज उनके अर्थ मे उत्कर्ष और अपकर्ष ला देता है।

हिन्दी में **कार्य** का एकमात्र अर्थ रह गया है 'काम'। प्राकृत मे इसका रूप कज्ज है जिससे हिन्दी मे काज बना है। हिन्दी मे **काम-काज** शब्द भी चलता है जिससे एक रूप काम-काजी भी बनता है जिसका अर्थ है : 'अच्छी तरह काम करने वाला'। इन सब मे काज का अर्थ काम रह गया है। अब गीता का श्लोक लीजिए :—

कार्यं कर्म करोति यः।

इस पद का अर्थ है 'जो करने योग्य काम करता है'। यहाँ कार्य का अर्थ काम' नही है। इसका अर्थ है 'करने योग्य कर्तव्य, कर्म'। हिन्दी भाषा में हम **कार्य**, काज, **कर्म**, काम आदि शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त करते है। गीता वाला अर्थ कभी का विस्मृति के गर्भ में लीन हो गया है। गीता मे एक स्थान पर आया है :—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

इस श्लोक मे **उदपान** का अर्थ 'कुआँ' है। इस शब्द मे उद और पान दो भिन्न-भिन्न शब्द हैं। उद का अर्थ 'पानी' और पान वास्तव में पा 'पीना' का एक रूप है। जिस प्रकार पा के अन्य रूप पात्रि, पात्र, आदि मिलते हैं उसी प्रकार यह पा-न भी एक रूप है। इसका अर्थ है 'पात्र'। पानी के बड़े पात्र का नाम भी 'कुआँ' है। इसका प्रयोग छान्दोग्यपनिषद् तथा महाभारत मे ही हुआ है, उसके बाद संस्कृत भाषा में यह शब्द मर गया है। हिन्दी मे तो हम पान चबाते हैं। हिन्दी पान संस्कृत मे पर्ण है। इसका गीता के पान से कोई सम्बन्ध नही है और न ही यह हिन्दी कोषो के अनुसार 'पीने' या

'शराब पीने' का पर्यायवाची है। इसका तो केवल मात्र अर्थ है 'वह सुरक्षित स्थान या पात्र जिसमे किसी पेय पदार्थ की रक्षा की जाती हो'।

अंग्रेजी मे पुल के लिए ब्रिज (Bridge) शब्द है। इस ब्रिज के हिज्जे है Bridge जिससे पता चलता है कि यह ब्रज् 'चलना' रूप से बना होगा जो अब नही मिलता।

हिन्दी में हमारी चेष्टा विफल हुई का अर्थ होता है: 'हमारा यत्न व्यर्थ रहा'। हिन्दी की एक बोली कुमाउँनी मे चेष्टा का अर्थ ही बदल जाता है। इनमें चेष्टा का अर्थ 'स्त्रियो के नखरे' हो जाता है। पंचतंत्र मे निम्न पद है :—

'आकारैरिङ्गितै चेष्टया वक्तृया भाषणेन च'

इसका अर्थ है 'मनुष्य के मन की स्थिति आँख, नाक, आदि इङ्गितो तथा बोलने के ढंग से ताड़ ली जाती है। हम जल पीते हैं और हमारे बंगाली भाई जल खाते हैं। गीता के वृजिन का अर्थ है 'वह मनुष्य जो समाज कल्याण मे वर्जन करने योग्य काम करता है'। इसका दूसरा अर्थ 'वर्जन करने योग्य काम' है।

हिन्दी मे हम परिभाषा का अर्थ करते है: 'किसी ज्ञान या विज्ञान मे प्रयुक्त विशेष शब्दो का स्पष्टीकरण या खुलासा।' यह शब्द संस्कृत व्याकरण मे भी काम में आया है; किन्तु गीता मे इस परिभाषा शब्द के स्थान पर भाषा शब्द आया है। निम्न श्लोक कई दृष्टियो से विचारणीय है :—

स्थित प्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थित धीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥

इस श्लोक मे अर्जुन आजकल की हिन्दी मे पूछते है: 'स्थित-प्रज्ञा वाले पुरुष की परिभाषा कैसे की जाएगी।' अर्जुन ने परिभाषा शब्द का प्रयोग नहीं किया है। उसने केवल भाषा शब्द से परिभाषा शब्द का बोध कराया है। भाषा-शास्त्र का एक नियम यह है कि आप जितने संक्षिप्त और ओजस्वी शब्दो का प्रयोग करेंगे वे उतने ही अधिक प्रभावशाली होगे। वैयाकरणो का कथन है: अर्ध मात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैय्याकरण.। अर्जुन ने परिभाषा के स्थान पर भाषा कह कर यही महत्व का काम किया है। भाषा शब्द भाष धातु से निकला है। धातु पाठ में आया है: भाष व्यक्तायां वाचि

अर्थात् भाषा का अर्थ है 'व्यंजक बात कहना' अर्थात् ऐसी बात कहना जिससे अपना अर्थ स्पष्ट हो जाय। इस दशा मे भाषा मे परि लगाने की क्या आवश्यकता है, आडम्बर छोड़ने मे ही सब की शोभा है। भगवान् कृष्ण और अर्जुन की वाणी में बड़ी स्पष्टता है, और उनके शब्दों का चयन बहुत ही उत्तम है। अब और देखिए--इस श्लोक से एक रहस्य और खुलता है, भगवान् के समय की संस्कृति में एक ही शब्द संज्ञा और विशेषण भी होता था। आजकल हम गरीब गया वाक्य अधूरा ही समझते हैं। गरीब आदमी गया कहने से वाक्य पूरा माना जाता है; क्योंकि केवल गरीब शब्द संज्ञा नही; बल्कि विशेषण है। हिन्दी शब्द-सागर में गरीब शब्द केवल विशेषण बताया गया है और इसका अर्थ दिया गया है—'नम्र, दीन, हीन, दरिद्र, निर्धन, कंगाल,' ये सभी शब्द विशेषण हैं। इनके आगे संज्ञा शब्द न रहने से वाक्य अधूरा ही रह जाता है। ऊपर के श्लोक में देखिए स्थित-प्रज्ञ *विशेषण और संज्ञा दोनों हैं। इसके अर्थ हैं 'स्थिर बुद्धि तथा स्थिर बुद्धि* वाला'। ऐसे ही शब्द समाधिस्थ और स्थितधी भी है। आप यह भी देखेंगे कि इन तीनों शब्दों के अर्थ एक ही हैं तथा ये तीनों शब्द संज्ञा तथा विशेषण के रूप में प्रयुक्त किए जा सकते है। ऐसा ही एक शब्द पाप है जो स्वयं भगवान के मुह से निकला है। गीता में एक श्लोक है —

भुञ्जते ते त्वघं पापा: ये पचन्त्यात्मकारणात् ।

इसका अर्थ है 'जो पापी केवल अपने लिये भोजन बनाते या बनवाते है, वे पाप खाते हैं।' यहां पापा: पाप शब्द का बहुवचन है और पाप दुष्कृत को कहते हैं; किन्तु इस स्थान पर पापा: का अर्थ है 'पापी लोग'। देहाती हिन्दी में गरीब जा रहा है चलता है उर्दू में गरीब गुर्बा जा रहे हैं चलता है, किन्तु खड़ी बोली में गरीब केवल विशेषण ही रह गया है।

पाप का ही अर्थ लीजिये। यह हिन्दी कोषों में 'वह कर्म जिसका फल इस लोक और परलोक में अशुभ हो; धर्म या पुण्य का उल्टा, बुरा काम, गुनाह, पातक' अर्थ में दिया गया है, किन्तु भगवान् ने पाप का एक अर्थ 'पापी' भी लिया है। इस कारण संस्कृत-अंग्रेजी कोष में पाप का अर्थ : 'Sin, a wicked man' दिया है। खेद है कि हम हिन्दी भाषा-भाषी भगवान की वाणी से विशेष लाभ नहीं उठा सके।

भारतीय आर्य भाषा का यूरोप में राज्य

अति प्राचीन समय मे एक बहुत बडी झील के किनारे काश्यप मुनि रहते थे। उस झील या छोटे सागर का नाम काश्यपमीर पड़ा, जिसका रूप धीरे-धीरे बिगड़ते-बिगड़ते इतना बदल गया कि उसे पहचानना कठिन हो गया। इस काश्यपमीर को सैकड़ों वर्षों से काश्मीर कहते है। यह भारतीय आर्य भाषा का जिक्र है, जिससे पता लगता है कि कभी 'मीर' शब्द भारत मे भी झील या छोटे सागर के अर्थ में काम मे लाया जाता था। किंतु वैदिक या सस्कृत में यह शब्द नही पाया जाता। हां यूरोप की भाषाओं में आज भी इसका अस्तित्व है। अंग्रेजी मे मैरीन या 'मेरीटाइम' का अर्थ है 'सागर संबधी।' फ्रेंच 'मैर,' इटालियन 'मारे,' रूसी 'मोरा,' जर्मन 'मैर' आदि इसी मीर के नाना प्राकृत रूप है। जर्मन भाषा मे कास्पियन सागर को, जो वास्तव में एक बड़ा झील है, कासीशेस मैर कहते है, जो वास्तव मे 'काश्यपस्य मीरः' का जर्मन रूप है। इस द्विधा में पता नही चलता कि काश्यप ऋषि का मूल देश कौन है ? हा, राजतरंगिणी से यह पता चलता है कि काश्मीर मे पहले सागर था जिसे काश्यप ऋषि ने बारामुला (वाराहमूल) के पास नहर खोद कर बहा दिया और पानी सुखा कर वहां ब्राह्मणों को बसा दिया। पर इस दंत कथा से कुछ निर्णयात्मक पता नही लगता कि महर्षि काश्यप वास्तव मे कहा बसते थे ? क्योकि काश्मीर से भी अधिक स्पष्ट रूप मे उनका नाम कास्पियन सागर ने अमर कर रखा है। यह जो भी हो, मीर शब्द के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात सिद्ध होती है कि कुछ शब्द जिनका अर्थ भारत मे लोप हो गया है, यूरोप की आर्य भाषाओं मे वर्तमान है। फारसी में 'लब' होंठ को कहते हैं। अंग्रेजी मे 'लिप्' लैटिन मे 'लाब+रुम, लाम+इयुम' इस भांति यूरोप की प्राय. सब भाषाओ में यह शब्द है, पर भारत मे 'लप्' तो नहीं है ? लपति का अर्थ है बोलना। इन बातो से स्पष्ट है कि कुछ आदि आर्य शब्द भारत से लोप हो गये हैं। पर इसमें संदेह नही कि जितने आदि आर्य शब्दों की रक्षा भारतीय आर्यों ने की है उतनी ईरानी शाखा को छोड़कर, आर्यों की किसी अन्य शाखा ने नही की।

अर्थात् भाषा का अर्थ है 'व्यंजक बात कहना' अर्थात् ऐसी बात कहना जिससे अपना अर्थ स्पष्ट हो जाय। इस दशा में भाषा में यदि सजाने की क्या आवश्यकता है, आडम्बर छोड़ने में ही सब की शोभा है। भगवान् कृष्ण और अर्जुन की वाणी में बड़ी स्पष्टता है, और उनके शब्दों का चयन बहुत ही उत्तम है। अब और देखिए--इस श्लोक से एक रहस्य और खुलता है, भगवान् के समय की संस्कृति में एक ही शब्द संज्ञा और विशेषण भी होता था। आजकल हम गरीब गया वाक्य अधूरा ही समझते हैं। गरीब आदमी गया कहने से वाक्य पूरा माना जाता है; क्योंकि केवल गरीब शब्द संज्ञा नहीं; बल्कि विशेषण है। हिन्दी शब्द-सागर में गरीब शब्द केवल विशेषण बताया गया है और इसका अर्थ दिया गया है—'नम्र, दीन, हीन, दरिद्र, निर्धन, कंगाल,' ये सभी शब्द विशेषण हैं। इनके आगे संज्ञा शब्द न रहने से वाक्य अधूरा ही रह जाता है। ऊपर के श्लोक में देखिए स्थित-प्रज्ञ विशेषण और संज्ञा दोनों है। इसके अर्थ हैं 'स्थिर बुद्धि तथा स्थिर बुद्धि वाला'। ऐसे ही शब्द समाधिस्थ और स्थितधी भी हैं। आप यह भी देखेंगे कि इन तीनों शब्दों के अर्थ एक ही हैं तथा ये तीनों शब्द संज्ञा तथा विशेषण के रूप में प्रयुक्त किए जा सकते हैं। ऐसा ही एक शब्द पाप है जो स्वयं भगवान् के मुख से निकला है। गीता में एक श्लोक है —

भुञ्जते ते त्वघं पापाः ये पचन्त्यात्मकारणात् ।

इसका अर्थ है 'जो पापी केवल अपने लिये भोजन बनाते या बनवाते हैं, वे पाप खाते हैं।' यहाँ पापाः पाप शब्द का बहुवचन है और पाप दुष्कर्म को कहते हैं, किन्तु इस स्थान पर पापा का अर्थ है 'पापी लोग'। देहली हिन्दी में गरीब जा रहा है चलता है उर्दू में गरीब गुर्बा जा रहे हैं चलता है, किन्तु यहाँ बोली में गरीब केवल विशेषण ही रह गया है।

पाप का ही अर्थ लीजिये। यह हिन्दी कोशों में 'वह कर्म जिसका फल इस लोक और परलोक में अशुभ हो; धर्म या पुण्य का उलटा, बुरा काम, गुनाह, पातक' अर्थ में दिया गया है, किन्तु भगवान् ने पाप का एक अर्थ 'पापी' भी किया है। इस कारण संस्कृत-अंग्रेजी कोश में पाप का अर्थ : 'Sin, a wicked man' दिया है। खेद है कि हम हिन्दी भाषा-भाषी भगवान की वाणी से विशेष लाभ नहीं उठा सके।

भारतीय आर्य भाषा का यूरोप में राज्य

अति प्राचीन समय मे एक बहुत बड़ी झील के किनारे काश्यप मुनि रहते थे। उस झील या छोटे सागर का नाम काश्यपमीर पड़ा, जिसका रूप धीरे-धीरे बिगड़ते-बिगड़ते इतना बदल गया कि उसे पहचानना कठिन हो गया। इस काश्यपमीर को सैकड़ो वर्षों से काश्मीर कहते है। यह भारतीय आर्य भाषा का जिक्र है, जिससे पता लगता है कि कभी 'मीर' शब्द भारत में भी झील या छोटे सागर के अर्थ मे काम मे लाया जाता था। किंतु वैदिक या संस्कृत मे यह शब्द नही पाया जाता। हां यूरोप की भाषाओ मे आज भी इसका अस्तित्व है। अंग्रेजी मे मेरीन या 'मेरीटाइम' का अर्थ है 'सागर संबंधी।' फ्रेंच 'मैर,' इटालियन 'मारे,' रूसी 'मोरा,' जर्मन 'मैर' आदि इसी **मीर** के नाना प्राकृत रूप है। जर्मन भाषा मे कास्पियन सागर को, जो वास्तव मे एक बड़ा झील है, कासीशेस मेर कहते है, जो वास्तव में 'काश्यपस्य मीर' का जर्मन रूप है। इस द्विधा मे पता नही चलता कि काश्यप ऋषि का मूल देश कौन है ? हा, राजतरंगिणी से यह पता चलता है कि काश्मीर मे पहले सागर था जिसे काश्यप ऋषि ने बारामुला (वाराहमूल) के पास नहर खोद कर बहा दिया और पानी सुखा कर वहा ब्राह्मणों को बसा दिया। पर इस दंत कथा से कुछ निर्णयात्मक पता नही लगता कि महर्षि काश्यप वास्तव में कहा बसते थे ? क्योकि काश्मीर से भी अधिक स्पष्ट रूप मे उनका नाम कास्पियन सागर ने अमर कर रखा है। यह जो भी हो, **मीर** शब्द के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात सिद्ध होती है कि कुछ शब्द जिनका अर्थ भारत मे लोप हो गया है, यूरोप की आर्य भाषाओं मे वर्तमान है। फारसी मे 'लब' होंठ को कहते हैं। अंग्रेजी मे 'लिप्' लैटिन मे 'लाब+रूम, लाम+इयुम' इस भाति यूरोप की प्राय. सब भाषाओं में यह शब्द है, पर भारत मे 'लप्' तो नही है ? लपति का अर्थ है बोलना। इन बातो से स्पष्ट है कि कुछ आदि आर्य शब्द भारत से लोप हो गये हैं। पर इसमे संदेह नही कि जितने आदि आर्य शब्दों की रक्षा भारतीय आर्यों ने की है उतनी ईरानी शाखा को छोडकर, आर्यों की किसी अन्य शाखा ने नही की।

पेरिस की एक सर्व राष्ट्रीय साहित्यिक समिति मे भाषा शास्त्र के परम विद्वान डा०सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने यह प्रस्ताव रखा है कि यदि पारिभाषिक शब्दो का गठन संस्कृत भाषा की नींव पर किया जाय तो वे स्वभावत. सर्व राष्ट्रीय शब्द बन जायेंगे। डा० चाटुर्ज्या का यह मत बहुत ठीक है। इस लेख मे मैं यह दिखाऊंगा कि प्रायः पूर्ण वैदिक तथा संस्कृत भाषाओं के शब्द भंडार की तुलना मे यूरोपियन आर्य भाषाए अपूर्ण है। इसमे संदेह नही कि भारोपा (भारत-यूरोप की) भाषाओ का विकास भारत मे लेकर आयरलैण्ड तक सर्वत्र स्वतंत्र रूप से हुआ है, पर मूल भारोपा का संरक्षण भारतीय आर्यो ने जिस उत्साह, लगन और प्रेम से किया है, उसके लिये संसार भारत का ऋणी है और रहेगा।

यहां पर मैं एक उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करूंगा। यूरोप के नाना देशों में (भाषा की शाखाओ के विभाजन की दृष्टि से) ईश्वर के नाना नाम हैं—अंग्रेज ईश्वर को गॉड कहते है, स्लाविक भाषा मे उसे 'बोग' नाम दिया गया है तथा दक्षिण यूरोप के रोमन भाषा भाषी लोग उसे 'दिओ' कहते हैं। ये तीनो नाम भारत मे आज तक सुरक्षित हैं।

वैदिक समय से लेकर आज तक भारत भर मे देव शब्द का प्रचार चला आया है। नवीन भारतीय आर्य भाषाओ मे यह शब्द सर्वत्र प्रचलित है। भले ही रूप मे थोड़ा बहुत भेद हो गया हो। इसके भारतीय प्रांतीय रूप ये हैं–बंगला मे इसे दे या देव कहते है, आसामी मे दिम, पंजाबी देउ, काश्मीर मे इसका रूप देव् या दिव् हो गया है। कुमाउँनी मे देवता तथा वृष्टि दोनो को द्यो कहते हैं। गुजराती तथा मराठी मे भी देव कहा जाता है। उधर पश्तो मे देव, 'भूत' या 'राक्षस' को कहते हैं। फारसी मे भी देव का यही अर्थ है। ऐसा मालूम पड़ता है कि प्राचीन समय मे, जबकि भारतीय तथा ईरानी आर्य पड़ोस में या साथ मिलकर रहते थे, कुछ शब्दो के बारे में उनका झगड़ा हो गया। असुर, देव आदि शब्द मुख्य थे। यद्यपि ऋग्वेद मे असुर शब्द ईश्वर के लिये आया है, पर इस झगड़े के बाद असुर के माने भारतीय आर्य भाषा मे 'देवताओं का शत्रु' और देव का अर्थ ईरानी भाषा मे असुर 'राक्षस' हो गया। किन्तु अवेस्ता मे दिव् का अर्थ 'चमकना' है। यद्यपि यह शब्द भगवान के लिये यूरोप की प्रायः सभी भाषाओ मे किसी न किसी रूप में पाया जाता है; पर इसका स्पष्ट प्रचार और प्रयोग उन देशो मे पाया जाता है, जो

सीधी लैटिन भाषा से निकली है। ये भाषायें पुर्तगाल से रूमानिया तक दक्षिणी देशों मे फैली हुई हैं।

अब दूसरा शब्द लीजिये। जौक ने कहा है—

दिला सं आशिकारा हमको किसकी साकिया चोरी।
खुदा की गर नहीं चोरी तो फिर बंदे की क्या चोरी ॥*

इसमें खुदा शब्द ईश्वर के लिये आया है। खुद शब्द जो, वास्तव में 'ख्वदा' लिखा जाता है, अपने 'स्वधा' का ईरानी रूप है। स्वधा (स्व+धा) का मूल अर्थ वैदिक भाषा या उससे भी पहले या–स्वय अपने को धारण करने वाला या स्वयं अपनी सृष्टि करने वाला। धा धातु का एक अर्थ, जो हम भूल गये हैं, 'सृष्टि करना' भी था। 'वि+धाता' या 'धाता' मे 'धा' का प्रयोग इसी अर्थ में है। अवेस्ता मे भी इसका यही अर्थ है। 'स्व' शब्द सभी आर्य भाषाओं मे मिलता है। ग्रीक स्वे, लैटिन स्वि में, अंग्रेजी सेल्फ फ्रेंच स्वा, डेनिश सेल्व, अवेस्ता ह्व (सिंधु का हिंद, स का ह, नियम से) बना है। इसी प्रकार धा धातु आदि आर्य भाषा मे धा ही है। वैदिक 'धा' तथा अवेस्ता की 'धा' एक है। अवेस्ता मे ईश्वर के लिये 'ख्वदात (+स्व-धाता) पहलवी मे खुनाई, पश्तो मे खुदाई, ईरानी में खुदा है। यह शब्द आस्ट्रिया से लेकर आयरलैंड तक यूरोप के सब उत्तर पश्चिमी देशों मे गौड़, गुय, गुध, गुड, गौर आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। भारत में स्वधा का मूल अर्थ प्रायः लुप्त हो गया है। हम जो हवन के समय 'स्वाहा स्वधा नमोस्तुते' कहते है। उसमे स्वधा सुधा के (व=उ) अर्थ में है फिर भी वेदों मे दो तीन ठौर यह अर्थ पाया जाता है, उदाहरणार्थ 'अनीवात स्वधया तदेकम्' में यह तात्पर्य स्पष्ट है।

तीसरा शब्द भग है। इसका आदि आर्य अथवा भारोपा (भारत+यूरोप से) रूप भग ही है। वैदिक रूप भी भग है (भगस्य ष्वसा वरुणस्य जाभिः)। अवेस्ता मे हमारा वैदिक भग बग रूप में है। पुराने ईरानी नाम बगदत्त,

---

*इस शेर में केवल दो शब्द विदेशी हैं–आशिकारा तथा साकिया। बाकी तीन तथा कथित अहिंदी शब्द 'गर, खुदा और बंदा' विशुद्ध आर्य हैं। भले ही वे ईरानी प्राकृत हों।

बगार्तस् आदि होते थे। बगदाद का नाम बग शब्द से है। इसके वैदिक रूप है 'भग धात' या 'भगदत्त'। रूस, पोलैण्ड, लिथुआनिया, बलगेरिया आदि स्लाविक देशों में आज तक ईश्वर इसी नाम से पुकारा जाता है। भग का अर्थ ऐश्वर्य भी है। इसलिये लिथुआनिया में बग ऐश्वर्य को भी कहते हैं और हमारे अभागे शब्द के अनुसार वहां भाग्यहीन को बगस् कहते हैं। प्राचीन स्लाविश भाषा मे—जो विशेषतः बलगेरिया के पादड़ियो की भाषा है—अभागे को उ+बोगु कहते हैं इसी प्रकार धनी को लिथुआनिया में बग+ओतस = लेटलैंड की भाषा का बग्ग+अत्+स = प्राचीन स्लाविश बोग = अनु (भगवत्) कहते हैं। इन सब देशो में ईश्वर को बोग, बोगु आदि नामो से सबोधित करते हैं।

इससे यह बात खुली कि ईश्वर के यूरोप मे तीन नाम हैं। जिनमे से पश्चिमोत्तर राष्ट्रो मे स्वधा के प्राकृत रूपो का प्रचार है। दक्षिण के लैटिन भाषा भाषी देशो मे 'देव' शब्द के प्राकृत रूप प्रचलित हैं।

भारोपा की बेटियां–हिंदी व अंग्रेजी

अंग्रेजो से हमने कहा–"भारत छोडो।" और हमारे सौभाग्य से उन्होने अनायास ही भारत से अपना रास्ता नाप लिया है। अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद अब यद्यपि अंग्रेजी भाषा गौण भाषा के रूप मे रहेगी, तो भी उसका दबदबा भारत से उठ जायगा–उसकी प्रभुता न रहेगी। पर कभी यदि ऐसा समय आ जाय कि हमारे देश मे नाम मात्र को भी अंग्रेजी भाषा न रहे, तो भी हिंदी मे, कई अंग्रेजी शब्द, जो रात दिन हमारी बोलचाल के काम मे आते है, घर के बन कर रहेगे ही। इसके अलावा दूसरी तथा बहुत महत्वपूर्ण बात, जो मैं इस निबंध मे बताना चाहता हू, यह है कि हम चाहे लाख जतन करें, पर हिंदी से अंग्रेजी का संबंध छूट नही सकता। अंग्रेजो ने डेढ़ दो सौ साल हम पर चाहे जितने जुल्म ढाए हो और जो कुछ अन्याय अत्याचार किए हो, पर तुलनामूलक शब्द शास्त्र स्पष्ट रूप से बताता है कि प्राय. चार हजार वर्ष पहले, अंग्रेजो की तथा हमारी भाषायें एक थी; और आदि आर्य भाषा, जिसे कुछ विद्वान इडो यूरोपियन (भारोपा) भाषा कहते है, उसकी सगी बेटिया थी। इन दोनों बहनो को बिछुड़े हुए बहुत लंबा काल बीत गया, किंतु आज भी हिंदी तथा अंगरेजी के बहुत से शब्द, इन दोनो भाषाओ की मूल एकता का प्रमाण देते हैं। यहां मैं उदाहरण के लिए कुछ शब्द दे रहा हू।

'ऊपर' शब्द, जो संस्कृत मे उपरि कहलाता है, अंग्रेजी मे ओवर (Over) है। यह जर्मन मे 'इयुबर' है। आदि आर्य भाषा मे इसका रूप 'यूपर' (uper) है। फारसी का मूल रूप वैदिक भाषा से मिलता जुलता है। अवेस्ता मे, जो पारसियों का आदि धर्म ग्रंथ है, इसे 'उपैरि' कहते हैं। यही शब्द पहलवी और पाजेद से गुजरते हुए नयी ईरानी में 'बर' हो गया। ऐंग्लो–सैक्सन भाषा मे, जहा से यह शब्द अंग्रेजी मे आया, इसे 'ओफेर' कहते थे। यूनानी मे यह 'उपर' है। लैटिन मे 'सुउपर' (Super) आइसलैण्ड यूरप के उत्तर पश्चिम मे एक बहुत ठंडा द्वीप है जहा प्राय. सदा हिम रहता है। वहा भी आर्य भाषा बोली जाती है और वहा साहित्य का प्रेम बहुत पहले

बगार्तस् आदि होते थे। बगदाद का नाम बग शब्द से है। इसके वैदिक रूप है 'भग धात' या 'भगदत्त'। रूस, पोलैण्ड, लिथुआनिया, बलगेरिया आदि स्लाविक देशों मे आज तक ईश्वर इसी नाम से पुकारा जाता है। भग का अर्थ ऐश्वर्य भी है। इसलिये लिथुआनिया मे बग ऐश्वर्य को भी कहते हैं और हमारे अभागे शब्द के अनुसार वहां भाग्यहीन को बगस् कहते हैं। प्राचीन स्लाविश भाषा में—जो विशेषतः बलगेरिया के पादड़ियो की भाषा है—अभागे को उ+बोगु कहते है इसी प्रकार धनी को लिथुआनिया मे बग+*ओतस =लेटलैंड की भाषा का बग्ग+अत्+स=प्राचीन स्लाविश बोग =* अतु (भगवत्) कहते हैं। इन सब देशों मे ईश्वर को बोग, बोगु आदि नामो से सबोधित करते है।

इससे यह बात खुली कि ईश्वर के यूरोप मे तीन नाम हैं। जिनमे से पश्चिमोत्तर राष्ट्रो मे स्वधा के प्राकृत रूपों का प्रचार है। दक्षिण के लैटिन *भाषा भाषी देशों मे 'देव' शब्द के प्राकृत रूप प्रचलित हैं।*

भारोपा की बेटियां–हिंदी व अंग्रेजी

अंग्रेजो से हमने कहा–"भारत छोड़ो।" और हमारे सौभाग्य से उन्होंने अनायास ही भारत से अपना रास्ता नाप लिया है। अंग्रेजों के भारत छोडने के बाद अब यद्यपि अंग्रेजी भाषा गौण भाषा के रूप मे रहेगी, तो भी उसका दबदबा भारत से उठ जायगा–उसकी प्रभुता न रहेगी। पर कभी यदि ऐसा समय आ जाय कि हमारे देश मे नाम मात्र को भी अंग्रेजी भाषा न रहे, तो भी हिंदी मे, कई अंग्रेजी शब्द, जो रात दिन हमारी बोलचाल के काम मे आते हैं, घर के बन कर रहेगे ही। इसके अलावा दूसरी तथा बहुत महत्वपूर्ण बात, जो मैं इस निबंध मे बताना चाहता हूं, यह है कि हम चाहे लाख जतन करें, पर हिंदी से अंग्रेजी का संबंध छूट नही सकता। अंग्रेजों ने डेढ़ दो सौ साल हम पर चाहे जितने जुल्म ढाए हों और जो कुछ अन्याय अत्याचार किए हों, पर तुलनामूलक शब्द शास्त्र स्पष्ट रूप से बताता है कि प्राय: चार हजार वर्ष पहले, अंग्रेजो की तथा हमारी भाषायें एक थी; और आदि आर्य भाषा, जिसे कुछ विद्वान इंडो यूरोपियन (भारोपा) भाषा कहते है, उसकी सगी बेटियां थी। इन दोनों बहनों को बिछुडे हुए बहुत लबा काल बीत गया, किंतु आज भी हिंदी तथा अंगरेजी के बहुत से शब्द, इन दोनों भाषाओं की मूल एकता का प्रमाण देते हैं। यहा मैं उदाहरण के लिए कुछ शब्द दे रहा हूं।

'ऊपर' शब्द, जो सस्कृत मे उपरि कहलाता है, अंग्रेजी में ओवर (Over) है। यह जर्मन मे 'इयुबर' है। आदि आर्य भाषा में इसका रूप 'यूपर' (uper) है। फारसी का मूल रूप वैदिक भाषा से मिलता जुलता है। अवेस्ता में, जो पारसियो का आदि धर्म ग्रंथ है, इसे 'उपैरि' कहते हैं। यही शब्द पहलवी और पाजेंद से गुजरते हुए नयी ईरानी मे 'बर' हो गया। ऐंग्लो–सैक्सन भाषा मे, जहां से यह शब्द अंग्रेजी मे आया, इसे 'ओफेर' कहते थे। यूनानी मे यह 'उपर' है। लैटिन मे 'सुउपर' (Super) आइसलैण्ड यूरप के उत्तर पश्चिम मे एक बहुत ठंडा द्वीप है जहां प्राय: सदा हिम रहता है। वहां भी आर्य भाषा बोली जाती है और वहां साहित्य का प्रेम बहुत पहले

से चला आता है। वहा हमारे ऊपर को 'यूफिर' कहते हैं। यह शब्द मूल मे 'उप' था। वेद मे 'उम' उपर और 'उपम' रूप है। उप का अर्थ है निकट या ऊंचा, उपर—उससे निकट या ऊंचा, उपम—सबसे निकट अथवा ऊंचा। उपमस्त्वो मघोनाम् का अर्थ है राजाओ मे सबसे ऊचा (श्रेष्ठ)। हिंदी मे केवल इसका एक ही रुप रह गया है, अर्थात् ऊपर जो 'तर' स्थिति बताता है। 'तम' स्थिति बताने वाला 'उपम' वेदोत्तर कालीन संस्कृत मे भी उस अर्थ मे नही है। उप शब्द अब उपमा, उपनिषद आदि में रह गया है। अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय आर्य भाषाओ मे तारतम्य के तीनों रूप वर्तमान है। (up,upper, up most)इस दृष्टि से यूरोप की भाषायें वैदिक भाषा के हिंदी या स्वय सस्कृत के अधिक निकट है। 'ऊपर' शब्द के विषय मे मैंने विस्तार से इसलिये लिखा है कि पाठक जान जायं की हगरी, फिनलैंड तथा एस्थोनिया को छोड़कर यूरोप के सब देशो की भाषायें आर्य है। रूसी भाषा मे ऊपर 'इवैर इन्तिइ' कहते हैं। इससे हम समझ गये होगे कि यूरोप की भाषायें अपनी राष्ट्रभाषा की बहनें है।

ऊपर मैं बता चुका हूं कि अंग्रेजी भाषा, हिंदी की तुलना मे वैदिक भाषा, और कही कही सस्कृत, के निकट है। आप 'है' को लीजिये। इसका सबध किस सस्कृत शब्द से है, यह बताना कुछ कठिन है। भू धातु से काशी का भया और अवधी का 'भा' व बा और बाटे निकले है। पर है जिस क्रम से बना वह चक्करदार है। अब आप 'इज' को लीजिए। इसमे अस् धातु के 'आस्ते' का रूप स्पष्ट रूप से वर्तमान है। विशेष मनोहर तथ्य यह है कि प्राचीन और नवीन जर्मन मे यह रूप 'इस्त' था और है। लिथुआनियन भाषा मे आज भी यह रूप 'अस्ति' है। इसका दूसरा रूप 'ऐम' लीजिये, यह साफ अस्मि तथा अवेस्ता का 'अहिम' और ग्रीक 'एइमि' का प्राकृत रूप है। आज भी 'ऐम' मे वैदिक तथा संस्कृत भाषाओ की छाप है। इसे लिथुआनियन मे 'अस्मि' कहते है। प्राचीन स्लाविक भाषा मे यह 'यस्मि' था। आइसलैंड की भाषा मे 'अम' कहते हैं। पर हिंदी 'हूं' थोड़ी दूर चला गया है। अब एक और शब्द का तमाशा देखिए।

भाषा का प्राकृत रूप

संस्कृत 'भ्रू' हिंदी मे 'भौंह' हो गया है, पर अंग्रेजी मे 'ब्रौ' है और फारसी मे 'अबू'। इससे भी हमे मालूम पड़ता है कि हिंदी स्वय संस्कृत से

बहुत दूर हट चुकी है। यह शब्द रूसी में 'स्रोदे' है। असल बात यह कि प्राचीन हिंदी (अपभ्रंश) वालो ने अन्य सब भाषा भाषियों की भांति, भाषा की प्रकृति, स्वाभाविक गति, माने जनता में भाषा की जो धारा प्रवाहित होनी है-जो गंगा बहती है, उसे अपनी लाठी की चोट से रोकने की चेष्टा नहीं की। फल यह हुआ कि कर्कश शब्द 'मीता' जनता की बोली मे 'सिय,' 'मिया' बन गया। और मेरे कान में तो मीता 'मिया' या 'मिय' मीठा लगता है। इसमे कोमलता आ गयी है। जनता ने मीता का नाम बिगाड़ा नही—उसे विकृत नही किया, बल्कि उसे संवारा—प्राकृत रूप दे दिया, उसे मांज-घिस-कर उसमे चमक ला दी, अस्तु। इस विषय पर फिर कभी लिखूंगा।

अब एक शब्द और लीजिये, अंग्रेज और हम कभी भाई-भाई थे और कुछ अंश में आज भी भाई-बिरादर है। हमने उन्हें भारत से इसलिये निकालना उचित समझा कि

मांगना भला न बाप से जो हरि राखे टेक

'पराधीन सपनेहु सुख नाही,' भले ही यह अपने भाई की अधीनता हो। जो भी हो, इस 'भाई' शब्द को ही लें। अंग्रेजी 'ब्रदर' जर्मन 'ब्रूदर', फ्रेंच 'फ्रेयर,' रूसी या स्लाव भाषाओ के 'बाबृ,' 'ब्रात' आदि रूप, यहां तक कि उत्तरी ध्रुव के पास एक सुदूर हिमाच्छादित द्वीप आइसलैंड का भी 'ब्रोथिर' संस्कृत शब्द 'भ्रातृ' से अधिक समानता रखता है, बनिसात हिंदी के 'भाई' शब्द के, जिससे मूल धातु भ्रिय भर का नाम निशान नही रहा। भर का अर्थ है 'पेट मे धारण करना'।

आदि आर्य भाषा और वेद के बहुत से शब्द प्राय: डेढ हजार वर्ष से हिंदी मे छूट गए है। तब से भारतीय आर्य भाषाओं में अश्व के स्थान पर 'घोटक' या 'घोड़ा' उदर के स्थान में 'पोट' या 'पेट' वृक्ष या दारु के स्थान मे बूटा, बोट पेड़ चलने लगे। बभ्रु शब्द हिंदी 'भूरे' मे रह गया है, पर इसका अर्थ एक भूरे रग के जल पक्षी से है जो बुना हुआ घोंसला बनाता है। अंगरेजी मे अभी तक इस पक्षी को 'बीवर' कहते हैं। 'दर्भ' हम कुश को कहते हैं, पर वेद मे दर्भ का अर्थ घास के गट्ठे या पूलें मे है। अंगरेजी में इसका रूप 'टर्फ' हो गया है, जिसका अर्थ 'घास से भरी भूमि' है। 'कवि' शब्द वेद में 'कच्चे मांस' के लिए आया है, यह शब्द या इससे निकला कोई और शब्द हिन्दी में नही रहा; पर अंगरेजी में इसका रूप 'ईट' (eat) है, जर्मन में यह 'एसन'

से चला आता है। वहा हमारे ऊपर को 'यूफिर' कहते है। यह शब्द मूल मे 'उप' था। वेद मे 'उम' उपर और 'उपम' रूप है। उप का अर्थ है निकट या ऊँचा, उपर—उससे निकट या ऊंचा, उपम—सबसे निकट अथवा ऊंचा। उपमस्त्वो मघोनाम् का अर्थ है राजाओ मे सबसे ऊंचा (श्रेष्ठ)। हिंदी मे केवल इसका एक ही रूप रह गया है, अर्थात् ऊपर जो 'तर' स्थिति बताता है। 'तम' स्थिति बताने वाला 'उपम' वेदोत्तर कालीन संस्कृत मे भी उस अर्थ मे नही है। उप शब्द अब उपमा, उपनिषद आदि मे रह गया है। अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय आर्य भाषाओ मे तारतम्य के तीनो रूप वर्तमान है। (up,upper, up most)इस दृष्टि से यूरोप की भाषायें वैदिक भाषा के हिंदी या स्वय सस्कृत के अधिक निकट है। 'ऊपर' शब्द के विषय मे मैंने विस्तार से इसलिये लिखा है कि पाठक जान जाय की हगरी, फिनलैंड तथा एस्थोनिया को छोड़कर यूरोप के सब देशो की भाषायें आर्य है। रूसी भाषा मे ऊपर 'इवैर इन्निइ' कहते हैं। इससे हम समझ गये होगे कि यूरोप की *भाषायें अपनी राष्ट्रभाषा की बहनें हैं।*

ऊपर मैं बता चुका हू कि अंग्रेजी भाषा, हिंदी की तुलना मे वैदिक भाषा, और कही कही संस्कृत, के निकट है। आप 'है' को लीजिये। इसका संबध किस संस्कृत शब्द से है, यह बताना कुछ कठिन है। भू धातु से काशी का भया और अवधी का 'भा' व बा और बाटे निकले है। पर है जिस क्रम से बना वह चक्करदार है। अब आप 'इज' को लीजिए। इसमे अस् धातु के 'आस्ते' का रूप स्पष्ट रूप से वर्तमान है। विशेष मनोहर तथ्य यह है कि प्राचीन और नवीन जर्मन मे यह रूप 'इस्त' या और है। लिथुआनियन भाषा मे आज भी यह रूप 'अस्ति' है। इसका दूसरा रूप 'ऐम' लीजिये, यह साफ अस्मि तथा अवेस्ता का 'अह्मि' और ग्रीक 'एइमि' का प्राकृत रूप है। आज भी 'ऐम' मे वैदिक तथा संस्कृत भाषाओ की छाप है। इसे लिथुआनियन मे 'अस्मि' कहते है। प्राचीन स्लाविक भाषा में यह 'यस्मि' था। आइसलैंड की भाषा मे 'अम' कहते है। पर हिंदी 'हूं' थोड़ी दूर चला गया है। अब एक और शब्द का तमाशा देखिए।

भाषा का प्राकृत रूप

संस्कृत 'भ्रू' हिंदी मे 'भौंह' हो गया है, पर अंग्रेजी मे 'ब्रौ' है और फारसी मे 'अबू'। इससे भी हमे मालूम पड़ता है कि हिंदी स्वय संस्कृत से

बहुत दूर हट चुकी है। यह शब्द रूसी में 'स्रोवे' है। असल बात यह कि प्राचीन हिंदी (अपभ्रंश) वालों ने अन्य सब भाषा भाषियों की भांति, भाषा की प्रकृति, स्वाभाविक गति, याने जनता में भाषा की जो धारा प्रवाहित होती है-जो गंगा बहती है; उसे अपनी लाठी की चोट से रोकने की चेष्टा नहीं की। फल यह हुआ कि कर्कश शब्द 'सीता' जनता की बोली में 'सिय,' 'सिया' बन गया। और मेरे कान में तो सीता 'सिया' या 'सिय' मीठा लगता है। इसमें कोमलता आ गयी है। जनता ने सीता का नाम बिगाड़ा नहीं--उसे विकृत नहीं किया, बल्कि उसे संवारा-प्राकृत रूप दे दिया, उसे मांज-घिस-कर उसमें चमक ला दी, अस्तु। इस विषय पर फिर कभी लिखूंगा।

अब एक शब्द और लीजिये, अंग्रेज और हम कभी भाई-भाई थे और कुछ अंश में आज भी भाई-बिरादर है। हमने उन्हें भारत से इसलिये निकालना उचित समझा कि

मांगना भला न बाप से जो हरि राखे टेक

'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं,' भले ही यह अपने भाई की अधीनता हो। जो भी हो, इस 'भाई' शब्द को ही लें। अंग्रेजी 'ब्रदर' जर्मन 'ब्रूदर', फ्रेंच 'फ्रेयर,' रूसी या स्लाव भाषाओं के 'बावृ,' 'ब्रात' आदि रूप, यहां तक कि उत्तरी ध्रुव के पास एक सुदूर हिमाच्छादित द्वीप आइसलैंड का भी 'ब्रोविर' संस्कृत शब्द 'भ्रातृ' से अधिक समानता रखता है, बनिसात हिंदी के 'भाई' शब्द के, जिससे मूल धातु भ्रिय भर का नाम निशान नहीं रहा। भर का अर्थ है 'पेट में धारण करना'।

आदि आर्य भाषा और वेद के बहुत से शब्द प्रायः डेढ़ हजार वर्ष से हिंदी में छूट गए है। तब से भारतीय आर्य भाषाओं में अश्व के स्थान पर 'घोटक' या 'घोड़ा' उदर के स्थान में 'पोट' या 'पेट' वृक्ष या दारु के स्थान में बूटा, बोट पेड़ चलने लगे। बभ्रु शब्द हिंदी 'भूरे' में रह गया है, पर इसका अर्थ एक भूरे रंग के जल पक्षी से है जो बुना हुआ घोंसला बनाता है। अंगरेजी में अभी तक इस पक्षी को 'बीवर' कहते हैं। 'दर्भ' हम कुश को कहते हैं, पर वेद में दर्भ का अर्थ घास के गट्ठे या पूले से है। अंगरेजी में इसका रूप 'टर्फ' हो गया है, जिसका अर्थ 'घास से भरी भूमि' है। 'कवि' शब्द वेद में 'कच्चे मांस' के लिए आया है, यह शब्द या इससे निकला कोई और शब्द हिन्दी में नहीं रहा; पर अंगरेजी में इसका रूप 'ईट' (eat) है, जर्मन में यह 'एस्सन'

हो गया है। हम 'बलीवर्द' को बैल कहते हैं, और वृषभ (वैं० तृपण्) का अपभ्रंश में 'बसह' हो गया है, पर अंगरेजी में 'ऑक्स' शब्द आज भी काम मे लाया जाता है। 'शुन्' का रूप अंगरेजी मे 'हॉण्ड' और जर्मन मे 'हुण्ट' है, पर हिंदी मे कुत्ता है जो कुक्कुर शब्द से कुत्ता होकर फिर हिंदी में कुत्ता बना है। गुजराती भाषा में कुत्ते को अभी 'कुत्रो' कहते है। गरजने वाली बिजली के लिये वैदिक 'तन्यतुस्' शब्द हिंदी मे लोप हो गया; बल्कि स्वयं संस्कृत मे यह शब्द नहीं रहा, पर अगरेजी मे यह 'अण्डर' और जर्मन में 'डॉनेर' रूप मे यह वैदिक शब्द आज भी विद्यमान है। हमारे बजरंगबली 'हनुमान, हनुस्' शब्द हिंदी मे नही रहा, पर इसका ग्रीक भाषा मे 'गेनुस्' और लैटिन मे 'गेना' होकर अगरेजी मे 'चिन' हो गया है। अस्तु।

कुछ शब्द हिंदी मे ऐसे है जिनका अर्थ वैदिक अर्थ से भिन्न है, पर उनका अर्थ अंगरेजी मे वैदिक भाषा के अनुसार है। ऋग्वेद मे 'अति' का अर्थ सामने या विरोध मे है। हमारी बोली में 'अंतिक' शब्द है, इसका अर्थ समीप या निकट है। पर अगरेजी मे एण्टि (anti) विरोधवाची है। इसी प्रकार 'अतर' का अर्थ दूसरा अर्थात् अदर (other) था। पत्र का अर्थ कभी 'पंख' था। अपने यहाँ पत्र का पत्ता हो गया है। अगरेजी मे इस 'पत्र' शब्द से फेदर निकला है। ध्वनि शब्द वैदिक भाषा मे 'गर्जन के' अर्थ मे था। पर आज धुन का अर्थ हिंदी मे 'लगन' और 'सुर-धुनि' का अर्थ 'गगा' है। 'सुर धुनि गंगे' मे क्या अर्थ है इसे स्पष्ट करना कठिन है। ध्वनि का अर्थ नाद है, पर अंगरेजी मे 'डिन्' शोरगुल को कहते है। 'हरिस्' वेद मे पीले रग को कहते थे। इससे अपना हिरण्य 'सोना' बना, अवेस्ता मे इसे 'जरिस्' कहते थे तथा सोने को 'जरैण्य'। हम अब पीला शब्द काम मे लाते है, हरा रंग दूसरा है। लेकिन अंग्रेजी मे 'हरिस्' से 'यलो' निकला है, जो हरिस् से अधिक साम्य रखता है।